भारतीय दर्शन परिचय

[प्रथम खण्ड]

न्याय-दर्शन

रचयिता

प्रोफेसर श्रीहरिमोहन झा
[बी. एन्. कॉलेज, पटना]

पुस्तक-भंडार, लहेरियासराय

प्रकाशक

पुस्तक-भंडार

लहेरियासराय

भारतीय दर्शन परिचय

प्रथम खण्ड	—	न्याय-दर्शन	
द्वितीय खण्ड	—	वैशेषिक दर्शन	(यन्त्रस्थ)
तृतीय खण्ड	—	सांख्य दर्शन	,,
चतुर्थ खण्ड	—	योगदर्शन	,,
पञ्चम खण्ड	—	मीमांसा दर्शन	,,
षष्ठ खण्ड	—	वेदान्त दर्शन	,,
सप्तम खण्ड	—	नास्तिक दर्शन	,,
अष्टम खण्ड	—	दर्शन समीक्षा	,,

मुद्रक

हनुमानप्रसाद

विद्यापति प्रेस, लहेरियासराय

निवेदन

भारतवर्ष दर्शन की जन्मभूमि है। पुण्यश्लोक **गौतम, कणाद, कपिल, पतञ्जलि, जैमिनि, शङ्कर** प्रभृति तत्त्वदर्शियों की जननी यह पावन भरतभूमि सम्पूर्ण संसार के दार्शनिकों के लिये तीर्थस्थान-स्वरूप है। किन्तु भारतवर्ष की अन्यान्य सम्पदाओं की तरह वह विमल ज्ञान-सम्पदा भी क्रमशः क्षीण होते-होते आज लुप्तप्राय हो रही है। भौतिक ऐश्वर्य की चकाचौंध में पड़कर लोगों की दृष्टि अन्तर्मुखी नहीं हो पाती। इस कारण आधुनिक युग में **'दर्शन'** का अदर्शन सा हो रहा है। कुछ इने-गिने विद्वानों को छोड़कर दार्शनिक तथ्यों का मनन तथा अनुशीलन करनेवाला कोई नहीं है। अब **मण्डन मिश्र** के समय की *'स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीराङ्गना यत्र गिरो वदन्ति'* वाली बात नहीं रही। अधिकांश संख्या तो ऐसे ही लोगों की है जो *'न्याय'*, *'सांख्य'*, वेदान्त', आदि कोरे शब्दों से ही परिचित हैं; उन शास्त्रों में क्या-क्या विषय प्रतिपादित हैं, इसका ज्ञान उन्हें नहीं। और ज्ञान-प्राप्ति का साधन भी सुलभ नहीं है। विशेषतः हिंदीवालों के लिये तो दर्शन के गहन वन में प्रवेश करना और भी कठिन है।

जहाँ तक मेरा अनुभव है, हिंदी में ऐसी पुस्तकें हैं ही नहीं, जिनके द्वारा **'न्याय', वैशेषिक', 'मीमांसा',** आदि के प्रेमी इन शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त कर सकें। हिंदी में दर्शन-साहित्य का यह अभाव अवसादजनक है। मेरी बहुत दिनों से अभिलाषा थी कि इस अभाव की पूर्त्ति आंशिक रूप में भी हो जाती तो एक महान् यज्ञ सम्पादित होता। किन्तु इस महायज्ञ की गुरुता तथा अपनी अल्पाशयता देखकर मुझे स्वयं इस कार्य में प्रवृत्त होने का साहस नहीं होता था। एक दिन बातों-ही-बातों में मेरे 'मास्टर साहब' श्रीरामलोचनशरणजी ने हिंदी-साहित्य के इस अभाव की पूर्त्ति करने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने मुझे प्रोत्साहित किया और कहा—"इस दिशा में प्रयत्न करो। इस पवित्र कार्य के सम्पादन में जो अर्थव्यय होगा उसके लिये मैं प्रस्तुत हूँ।" परिणामस्वरूप **"भारतीय दर्शन परिचय"** नामक ग्रन्थ का श्रीगणेश हुआ और कई वर्षों के निरन्तर परिश्रम के उपरान्त आज प्रथम खण्ड **'न्यायदर्शन'** प्रकाशित होकर आपके हाथ में है। यह ग्रन्थ आठ खण्डों में समाप्त होगा। इसके अग्रिम खण्ड इस प्रकार हैं—

(१) द्वितीय खण्ड—**वैशेषिक दर्शन**

(२) तृतीय खण्ड—**सांख्य दर्शन**

(३) चतुर्थ खण्ड—**योग दर्शन**

(४) पञ्चम खण्ड—**मीमांसा दर्शन**

(५) षष्ठ खण्ड—**वेदान्त दर्शन**

(६) सप्तम खण्ड—**नास्तिक दर्शन**

(७) अष्टम खण्ड—**दर्शन समीक्षा**

मैंने भारतीय दर्शनों को यथासंभव सरल और स्पष्ट रूप से समझाने की चेष्टा की है। फिर भी दर्शन का विषय ही कुछ ऐसा जटिल और दुरूह होता है कि क्लिष्टता से पिण्ड छुड़ाना कठिन है। प्रत्येक खण्ड में यथासाध्य मूलग्रन्थ का अनुसरण करते हुए विषय की विवेचना की गई है। संस्कृतज्ञ छात्रों के उपकारार्थ सूत्र भी दे दिये गये हैं। यथोचित स्थलों पर प्रामाणिक भाष्य, वार्तिक, वृत्ति, व्याख्या वा टीका के प्रासङ्गिक अंश भी उद्धृत किये गये हैं। लक्षणकारों ने जो परिभाषाएँ दी हैं, उनकी ऐसी सरल व्याख्या की गई है कि साधारण योग्यता के विद्यार्थी भी आसानी के साथ समझ सकें।

ग्रन्थ का विषय-क्रम स्वतन्त्र रखा गया है। अँगरेजी जाननेवाले पाठकों के उपकारार्थ स्थान-स्थान पर पाश्चात्य दर्शन का भी हवाला दिया गया है। पुस्तक को उपादेय बनाने का मैंने यथाशक्ति प्रयत्न किया है। फिर भी मेरी अल्पज्ञता या अनवधानता के कारण इसमें त्रुटियों का रहना सर्वथा संभव है। आशा है, विद्वान् पाठक नीर-क्षीर ग्रहण न्याय से इस कृति का अवलोकन कर लेखक की उत्साह-वृद्धि करेंगे।

जैसा मैं कह आया हूँ, यह ग्रन्थ सत्साहित्य के यशस्वी निर्माता श्रीयुत रामलोचनशरणजी की प्रेरणा का फल है। वे ही इसके *प्रयोजक* कर्त्ता हैं, मैं तो *प्रयोज्य* मात्र हूँ। इसका जो गुण-भाग है, उसका श्रेय उन्हीं को है; जो दोष भाग होगा वह मेरा है।

यदि इस पुस्तक से हिंदी-संसार का कुछ भी उपकार हुआ तो मैं अपने परिश्रम को सार्थक समझूँगा।

—लेखक

विषय-सूची

संकेत

गौ० सू०	=	गौतम सूत्र
टी०	=	टीका
त० कौ०	=	तर्क कौमुदी
त० सं०	=	तर्कसंग्रह
ता० र०	=	तार्किकरक्षा
न्या० कु०	=	न्यायकुसुमाञ्जलि
न्या० को	=	न्यायकोश
न्या० भा०	=	न्यायभाष्य
न्या० वा०	=	न्यायवार्त्तिक
न्या० सि० दी०	=	न्यायसिद्धान्तदीपिका
न्या० सू०	=	न्यायसूत्र
भा० प०	=	भाषापरिच्छेद
वै० उ०	=	वैशेषिक उपस्कार
व्या०	=	व्याख्या
ष० द० स०	=	षड्दर्शनसमुच्चय
स० द० सं०	=	सर्वदर्शनसंग्रह
स० सि० सं०	=	सर्वसिद्धान्तसंग्रह
सि० च०	=	सिद्धान्तचन्द्रिका
सि० मु०	=	सिद्धान्त मुक्तावली

विषय-प्रवेश

[न्याय शब्द का अर्थ—न्यायशास्त्र के अन्यान्य नाम—न्यायशास्त्र का उद्देश्य और प्रयोजन—न्यायशास्त्र का महत्त्व—न्यायकार गौतम—गौतम के सोलह पदार्थ—न्यायसूत्र का विषय—न्यायदर्शन का क्रमिक विकास—न्याय का साहित्य-भंडार—इस ग्रंथ का विषय-विन्यास]

न्याय शब्द का अर्थ—'न्याय' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया जाता है।

(१) साधारणतः 'न्याय' शब्द का अर्थ होता है, "नियमेन ईयते" अर्थात् नियमयुक्त व्यवहार। न्यायालय, न्यायकर्त्ता आदि प्रयोग इसी अर्थ को लेकर हैं।

(२) प्रसिद्ध दृष्टान्त के साथ 'सदृश' अर्थ में भी 'न्याय' शब्द का व्यवहार होता है। यथा, बीजांकुरन्याय, काकतालीय न्याय, स्थालीपुलाक न्याय इत्यादि।

(३) किन्तु दार्शनिक साहित्य में 'न्याय' का अर्थ होता है—

नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेन इति न्यायः

अर्थात् जिसके द्वारा किसी प्रतिपाद्य विषय की सिद्धि की जा सके, जिसकी सहायता से किसी निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचा जा सके, उसी का नाम 'न्याय' है।

एक दृष्टान्त ले लीजिये। सामने पहाड़ पर धुआँ देखकर आप अनुमान करते हैं कि वहाँ ज़रूर आग है। इस विषय को सिद्ध करने के लिये निम्नोक्त तर्कप्रणाली का अनुसरण करना पड़ेगा।

१ पर्वत पर अग्नि है.. (प्रतिज्ञा)
२ क्योंकि वहाँ धुआँ है..................................... (हेतु)
३ जहाँ धुआँ रहता है, वहाँ आग भी रहती है, जैसे रसोईघर में... (उदाहरण)
४ पर्वत पर भी धुआँ है ... ...(उपनय)
५ इसलिये पर्वत पर अग्नि है ... (निगमन)

यहाँ प्रतिपाद्य विषय है 'पर्वत पर अग्नि का होना।' यह साध्य वा प्रतिज्ञा है। इसका

साधन वा प्रमाण है 'पर्वत पर धुआँ दिखलाई पड़ना'। यह **हेतु** है। धुआँ अग्नि के अस्तित्व का सूचक चिह्न क्यों है ? इसीलिये कि सर्वत्र धुएँ का सम्बन्ध आग के साथ पाया जाता है, जैसे रसोईघर में। यह **उदाहरण** है। रसोईघर की तरह पहाड़ पर भी धुआँ पाया जाता है। यह **उपनय** है। इसलिये पहाड़ पर भी आग होगी। यह **निगमन** या निष्कर्ष है।

उपर्युक्त पाँचों अवयव (१ प्रतिज्ञा २ हेतु ३ उदाहरण ४ उपनय ५ निगमन) मिलकर प्रतिपाद्य विषय को सिद्ध करने में समर्थ होते हैं। इन्हीं पंचावयवों से युक्त वाक्यसमूह को **'न्याय'** अथवा **'न्याय प्रयोग'** कहते हैं।

वात्स्यायन कहते हैं—

साधनीयस्यार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते स पंचावयवोपेतवाक्यात्मको न्यायः

अर्थात् साध्य विषय की सिद्धि के हेतु जो आवश्यक अवयवस्वरूप पंचवाक्य हैं उनका समूह ही न्याय है। प्रतिज्ञा, हेतु, आदि अवयव **'न्यायावयव'** कहलाते हैं। सम्पूर्ण न्याय-प्रयोग का फलितार्थ वा निचोड़ है अन्तिम निगमन। अतएव वह **'परमन्याय'** कहलाता है।

उपर्युक्त पंचावयव अनुमान के अङ्ग हैं। दूसरों के समक्ष प्रतिपाद्य विषय को स्थापित करने के लिये ही इन पांचों महावाक्यों का सहारा लेना पड़ता है। अतः इनके प्रयोग को **'परार्थानुमान'** कहते हैं।

इस तरह न्याय शब्द से परार्थानुमान का ग्रहण होता है। अतः माधवाचार्य सर्वदर्शन-संग्रह में न्याय को परार्थानुमान का अपर पर्याय बतलाते हैं।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो न्याय अथवा परार्थानुमान में सभी प्रमाणों का संघटन हो जाता है। प्रतिज्ञा में शब्द, हेतु में अनुमान, उदाहरण में प्रत्यक्ष, और उपनय में उपमान, इस प्रकार सभी प्रमाण आ जाते हैं। इन सबों के योग से ही निगमन वा फलितार्थ निकलता है। अतएव न्यायवार्त्तिक में कहा गया है—

समस्तप्रमाणव्यापारादर्थाधिगतिर्न्यायः

अर्थात् समस्त प्रमाणों के व्यापार के द्वारा किसी निष्कर्ष वा फल की प्राप्ति होना ही 'न्याय' है।

इस प्रकार न्याय शब्द की व्याप्ति उन सभी विषयों में हो जाती है जहाँ प्रमाण की सहायता से पदार्थ का विवेचन किया गया हो। इसलिये प्रत्येक शास्त्र की न्याय संज्ञा हो सकती है। इसी कारण मीमांसा प्रभृति के कतिपय ग्रन्थों के नाम में भी न्याय शब्द देखने में आता है। यथा—मीमांसान्यायप्रकाश, न्यायरत्नाकर, जैमिनीयन्यायमालाविस्तर इत्यादि। इन स्थलों में 'न्याय' शब्द का अर्थ है 'युक्तिसंगत विवेचन'। *

---

* वेदार्थनिर्णयसाधनमधिकरणात्मकः पदार्थः न्यायः। —न्यायकोश

(४) किन्तु न्याय शब्द ऐसे व्यापक अर्थ में विशेष प्रचलित नहीं है। वह **गौतमीय दर्शन** के अर्थ में रूढ़ हो गया है। गौतमरचित सूत्र और उसपर जो भाष्यवृत्ति आदि का विशद साहित्य निर्मित हुआ है, वही न्याय के नाम से प्रसिद्ध है। इसका कारण यह है कि गौतम और उनके अनुयायियों ने न्याय (अनुमान) और उसके अवयवों की विवेचना को ही अपना केन्द्रीभूत विषय बनाया है।

इतना ही नहीं, 'न्याय' शब्द के अन्यान्य अर्थ भी गौतमीय दर्शन पर लागू होते हैं। यह शास्त्र युक्ति का नियमनिर्धारण कर सत् और असत् पक्ष का निर्णय करता है। अतः यह प्रचलित अर्थ में भी न्यायकर्त्ता कहा जा सकता है। नैयायिकगण उदाहरण या दृष्टान्त के बल पर अपना पक्ष सिद्ध करते हैं (जैसे रसोईघर में धुएँ के साथ आग है तो पहाड़ पर भी ऐसा ही होगा)। इस अर्थ में भी न्याय शब्द सार्थक हो जाता है। इस प्रकार गौतमीयशास्त्र की **'न्याय'** संज्ञा सभी दृष्टियों से उपयुक्त और समीचीन है।

न्यायशास्त्र के अन्यान्य नाम—न्यायशास्त्र अपनी बीजावस्था में **'आन्वीक्षिकी विद्या'** के नाम से प्रसिद्ध था। आन्वीक्षिकी का अर्थ है—

प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणम् अन्वीक्षा तया वर्त्तते इति आन्वीक्षिकी

अर्थात् प्रत्यक्ष वा आगम के द्वारा उपलब्ध विषय का पुनः अन्वीक्षण (अनु = पश्चात्, ईक्षण = अवलोकन) करना ही **अन्वीक्षा** है। इसलिये तर्क के द्वारा किसी विषय का अनुसन्धान करने की संज्ञा 'आन्वीक्षिकी' हुई। यही आन्वीक्षिकी विद्या कालान्तर में न्याय वा तर्क के नाम से प्रसिद्ध हुई। *

आधुनिक समय में **'न्यायशास्त्र'** वा **'तर्कशास्त्र'** शब्द ही विशेष प्रचलित है। इस शास्त्र के अध्ययन से वाद करने की कला में प्रवीणता प्राप्त होती है। अतः इसे **'वादविद्या'** भी कहते हैं। न्यायदर्शन में प्रमाण का ही महत्त्व सर्वोपरि है अतः इसे **'प्रमाणशास्त्र'** भी कहते हैं। साध्य वस्तु को प्रमाणित करने के लिये सबसे मुख्य वस्तु है 'हेतु'। विना हेतु दिये प्रतिज्ञा का कुछ भी मूल्य नहीं। इसलिये नैयायिकगण हेतु को बड़ा ही प्रमुख स्थान देते हैं। इसी कारण न्यायशास्त्र को **'हेतुविद्या'** भी कहते हैं।

न्यायदर्शन का मूलस्वरूप जो सूत्रग्रन्थ है उसके रचयिता हैं गौतम मुनि। अतः न्याय दर्शन को **'गौतमीय शास्त्र'** कहते हैं। गौतम का एक नाम अक्षपाद भी है। अतः सर्वदर्शन-संग्रह में न्याय के लिये **'अक्षपाद दर्शन'** शब्द मिलता है।

* सेयमान्वीक्षिकी न्यायतर्कादि शब्दैरपि व्यवह्रियते। (वात्स्यायन १।१।१)

न्यायशास्त्र का उद्देश्य और प्रयोजन—न्यायशास्त्र का उद्देश्य है प्रमाण द्वारा ज्ञान के सत्यासत्यत्व की परीक्षा करना। इसीलिये न्याय **प्रमाण शास्त्र** वा **परीक्षा शास्त्र** कहा जाता है। प्रमाण-लक्षण के द्वारा वस्तुसिद्धि की यथार्थ रीति निर्धारित करना ही न्यायशास्त्र का प्रधान लक्ष्य है।

विना प्रमाण के यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता और विना ज्ञान के मुक्ति नहीं हो सकती। इस तरह न्यायशास्त्र मोक्षप्राप्ति के लिये सोपान-स्वरूप वा परमार्थसाधक है। न्यायसूत्रकार पहले ही सूत्र में कहते हैं—

"प्रमाणप्रमेय............तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः।"

अर्थात् प्रमाणादि विषयों का तत्त्वज्ञान **निःश्रेयस** या चरम कल्याण का विधायक है। यही न्यायदर्शन का अन्तिम ध्येय है।

जब अज्ञात विषय के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न मत पाये जाते हैं तब स्वभावतः मन में यह शंका उठती है कि इनमें कौन सत्य है और कौन असत्य। इस शंका का समाधान करने के लिये युक्तिवाद का आश्रय लेना पड़ता है अर्थात् यह विचार करना होता है कि कौन पक्ष युक्तिसंगत है और कौन अयुक्तिसंगत। यह मालूम कैसे होगा? इसके लिये कोई मानदण्ड होना आवश्यक है। जो पक्ष प्रमाण की कसौटी में खरा उतरता है वही सत्य माना जाता है। इसी कसौटी को तैयार करने के लिये न्यायशास्त्र का प्रयोजन हुआ।

विना प्रयोजन के प्रवृत्ति नहीं होती। "**प्रयोजन मनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते**। न्यायशास्त्र की उत्पत्ति भी प्रयोजनवश हुई। जब वेदोक्त विषयों का स्वार्थियों द्वारा अनर्थ और दुरुपयोग होने लगा तब वेद के सच्चे अर्थ का निर्णय और युक्ति द्वारा उसकी पुष्टि करने की आवश्यकता आ पड़ी। कुतर्कियों से वेद की रक्षा करने के लिये ही गौतमीय शास्त्र का जन्म हुआ। सर्वसिद्धान्तसंग्रहकार भी इस बात का समर्थन करते हैं—

नैयायिकस्य पक्षोऽयं संक्षेपात्प्रतिपद्यते।
यत्तर्करक्षितो वेदो ग्रस्तः पाषण्डदुर्जनैः।

न्यायकर्त्ता गौतम ने वेद को प्रामाणिक और सत्य माना है। पीछे बौद्ध और जैन तार्किकों ने न्याय के अस्त्रों से ही न्यायशास्त्र पर प्रहार करना शुरू किया और वेद को असत्य ठहराने लगे। इनके आक्षेपों का उत्तर देने के लिये नैयायिकों को अपनी शक्ति और भी सुदृढ़ करने की आवश्यकता पड़ी। फलतः न्यायशास्त्र का सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिमार्जन और अनुशीलन होने लगा। विपक्षियों के आक्रमण से अपने को बचाने के लिये तरह-तरह के वाग्जालरूपी

अभेद्य कवच तैयार किये गये। धीरे-धीरे वाग्युद्ध में विजय प्राप्त करना ही नैयायिकों का मुख्य लक्ष्य बन गया। येनकेन प्रकारेण वाक्छलादि द्वारा प्रतिपक्षियों को परास्त करने में ही पराक्रम समझा जाने लगा। इस प्रकार वाद के स्थान पर जल्प और वितण्डा की प्रधानता हो गई।

यद्यपि न्यायशास्त्र का असली उद्देश्य तत्त्वबोध है, तथापि आजकल अधिकतर लोग पाण्डित्य-प्रदर्शन तथा शास्त्रार्थ में विजयप्राप्ति की कामना से ही न्याय के अध्ययन में प्रवृत्त होते हैं। किन्तु यथार्थ नैयायिक उसीको समझना चाहिये जो **जिगीषु** (विजय का भूखा) नहीं होकर **तत्त्व-बुभुत्सु** (तत्त्व का भूखा) हो। व्यक्तिगत लाभ-हानि की ओर जरा भी ध्यान न देकर सत्यपक्ष का ग्रहण और असत्य पक्ष का परित्याग करना ही नैयायिक का सच्चा धर्म है। जो इस उद्देश्य से प्रेरित होकर न्याय का अध्ययन करता है, उसीकी विद्या सार्थक है।

न्यायशास्त्र का महत्त्व—विद्वानों की मण्डली में न्यायशास्त्र का बड़ा ही आदर है। विना न्याय पढ़े कोई पण्डित की गणना ही में नहीं आ सकता। व्याकरण और न्याय ये दोनों विषय पण्डित के लिये अनिवार्य हैं। इसलिये प्राचीन समय से यही परिपाटी चली आती है कि विद्यार्थी को लघुसिद्धान्तकौमुदी (व्याकरण) और तर्कसंग्रह (न्याय) से विद्याध्ययन का श्रीगणेश कराया जाता है।

न्याय का बोध हो जाने पर सभी शास्त्रों में सुगमतया प्रवेश हो जाता है। कहा भी है—

"गौतमप्रथितं शास्त्रं सर्वशास्त्रोपकारकम्"

न्याय की तर्कशैली और उसके पारिभाषिक शब्द भारतीय संस्कृति में घुलमिलकर उसके आवश्यक अंग बन गये हैं। यहाँ तक कि अन्यान्य दर्शन भी जो न्याय से मतभेद रखते हैं, न्याय के ही पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करते हैं। न्याय के किसी सिद्धान्त का खण्डन करने के लिये भी उन्हें न्यायानुमोदित पद्धति का ही अवलम्बन करना पड़ता है। इससे बढ़कर न्यायशास्त्र की व्यापकता और उपयोगिता का प्रमाण और क्या हो सकता है?

मनु, याज्ञवल्क्य आदि के समय में भी न्यायशास्त्र आदर की दृष्टि से देखा जाता था। मनुजी कहते हैं—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः।

—मनुस्मृति १२।१०६

अर्थात् जो तर्क द्वारा वेदशास्त्र के अर्थ का तत्त्वान्वेषण करता है वही धर्म के यथार्थ मर्म को समझ सकता है, दूसरा नहीं।

चतुर्दश विद्याओं के अन्तर्गत न्याय का भी स्थान है। याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है—

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रिताः ।

वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ।

— याज्ञवल्क्यस्मृति १।३

चौदह विद्याएँ ये हैं—(१) **चार वेद**, + (२) **छः वेदाङ्ग** (१. शिक्षा, २. कल्प, ३. व्याकरण, ४. निरुक्त, ५. छन्द, ६. ज्योतिष), + (३) **चार उपाङ्ग** (१. पुराण, २. न्याय, ३. मीमांसा, ४. धर्मशास्त्र)। न्यायशास्त्र वेद का उपाङ्ग है ऐसा वचन पुराण में भी पाया जाता है।*

कौटिलीय अर्थशास्त्र के विद्यासमुद्देश प्रकरण में चार प्रकार की विद्याएँ मुख्य बतलाई गई हैं। ये चारों विद्याएँ हैं—(१) त्रयी (तीनों वेद), (२) दण्डनीति (राजनीति), (३) आन्वीक्षिकी (तर्क और दर्शनशास्त्र) तथा (४) वार्त्ता (अर्थशास्त्र)।†

आन्वीक्षिकी विद्या के विषय में कौटिल्य आगे चलकर कहते हैं—

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।

आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ।

अर्थात् आन्वीक्षिकी सभी विद्याओं को दीपक की तरह प्रकाश देने का काम करती है। यह समस्त कार्यों का साधन और सभी धर्मों का आश्रय स्वरूप है।

इस देश में विद्याध्ययन की जो प्राचीन परम्परा चली आती है, उसमें आज भी ये पाँच विषय प्रधान हैं—(१) काव्य, (२) नाटक, (३) अलङ्कार, (४) व्याकरण और (५) तर्क। तर्कशास्त्र यथार्थतः सभी शास्त्रों के लिये प्रकाश-स्वरूप है।

न्यायकार गौतम—न्यायदर्शन के आदि प्रवर्त्तक वा संकलयिता हैं महर्षि गौतम। यह बात नहीं है कि गौतम के पहले तर्कविद्या थी ही नहीं। तर्क का अस्तित्व तो उसी समय से मानना पड़ेगा जब से मनुष्य के मस्तिष्क में बुद्धि है। उपनिषद् के समय में भी नाना विषयों को लेकर तर्क-वितर्क करने की परिपाटी प्रचलित थी। किन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि गौतम के पहले तर्कविद्या सुव्यवस्थित रूप में नहीं थी। कम-से-कम गौतम के पूर्व का कोई ग्रन्थ ऐसा नहीं है जिसमें तर्क, प्रमाण, वाद प्रभृति का नियमबद्ध निरूपण हो।

गौतम ने तर्क-विद्या के लिये वही किया है जो पाणिनि ने व्याकरण के लिये किया है। इन शास्त्रों का कोई व्यक्तिविशेष जन्मदाता नहीं हो सकता, केवल उन्नायक हो सकता है।

---

* मीमांसा न्यायतर्कश्च उपाङ्गः परिकीर्त्तितः।

† त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिञ्च शाश्वतीम्। आन्वीक्षिकी चात्मविद्यां वार्त्तारम्भांश्च लोकतः॥

—मनुस्मृति ७।४३

जिस तरह पाणिनि ने व्याकरण के नियमों को शृंखलाबद्ध किया, उसी प्रकार गौतम ने प्रमाण-शास्त्र के तत्त्वों का विश्लेषण कर उसे नियन्त्रित रूप दिया।

महर्षि गौतम कौन थे? इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर देना कठिन है। गौतम और अहल्या की पौराणिक कथा प्रसिद्ध है। मिथिला प्रान्त में कमतौल स्टेशन के निकट अहल्या-स्थान है। वहाँ आज भी लोग गौतमकुण्ड और अहल्याकुण्ड में स्नान कर अपने को पवित्र मानते हैं। कहा जाता है कि रामचन्द्रजी इसी रास्ते जनकपुर गये थे। अहल्योद्धार की कथा तो रामायण-प्रेमियों को विदित ही है।

अब प्रश्न यह है कि यह पौराणिक गौतम और दार्शनिक गौतम दोनों एक हैं या दो? पुराणादि में विश्वास रखनेवालों का मत है कि अहल्या के स्वामी गौतम मुनि ही न्यायसूत्र के रचयिता गौतम हैं। प्रायः किसी रामायण में इसका एक प्रमाण भी मिलता है। जब रामचन्द्रजी वनवास के लिये प्रस्थान करने लगे, तब वशिष्ठ आदि मुनियों ने बहुत तरह से उन्हें समझाया, किन्तु उन्होंने एक न सुनी। तब तर्कशास्त्र-विशारद गौतम बुला भेजे गये। उन्होंने आते ही, रामचन्द्र से प्रश्न किया—"आपने जो वनवास का संकल्प कर रक्खा है सो किस अर्थ में? यदि 'सभी वनों में वास' यह अर्थ हो तब तो १४ वर्ष में भी वह संकल्प पूरा नहीं हो सकता। और यदि 'किसी एक वन में वास' ऐसा अभिप्रेत हो तब फिर अयोध्या के निकट ही किसी वन में क्यों नहीं रह जाते?" इसपर रामचन्द्र निरुत्तर हो गये और उन्होंने हँसी में कहा—

यः पटेत् गौतमीं विद्यां नहि शान्तिमवाप्नुयात्।

इस उपाख्यान के विषय में लोग जो कहें, किन्तु इतना तो अवश्य है कि रामायणयुग से ही नैयायिक गौतम का नाम प्रसिद्ध है।

महाभारत के शान्तिपर्व में गौतम का मेधातिथि नाम से उल्लेख पाया जाता है। भास के प्रतिमा नाटक में भी न्यायकर्त्ता मेधातिथि का जिक्र मिलता है।*

गौतम मुनि 'अक्षपाद' नाम से भी प्रसिद्ध हैं। इस नाम के सम्बन्ध में एक मनोरञ्जक किंवदन्ती है। कहा जाता है कि महर्षि गौतम प्रतिदिन निस्तब्ध रात्रि में एकान्त भ्रमण करते और शास्त्रचिन्तन में तल्लीन हो सूत्ररचना करते चलते थे। वे अपनी विचारधारा में इतने मग्न हो जाते थे कि आगे क्या है, इसकी उन्हें कुछ भी सुध नहीं रहती थी। एक दिन वे किसी पदार्थ का विश्लेषण करते-करते कुएँ में जा गिरे। इस प्रकार उनके तत्त्वचिन्तन में बाधा पड़ते देख विधाता ने उनके पाँवों में भी दृष्टिशक्ति प्रदान कर दी। तबसे वे **'अक्षपाद'** (जिसके पाँव में आँख हो) कहलाने लगे।

---

* "मानवीयंधर्मशास्त्रम्। माहेश्वरं योगशास्त्रम्। बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रम्। मेधातिथेर्न्यायशास्त्रम्।"

महर्षि गौतम के समय को लेकर आधुनिक विद्वानों में मतभेद पाया जाता है। बहुत-से पाश्चात्य और एतद्देशीय विद्वान् न्यायसूत्र में बौद्धानुमोदित शून्यवाद और विज्ञानवाद का खण्डन देखकर उसका रचना-काल बौद्ध युग में ठहराते हैं। इस हिसाब से गौतम का समय बुद्ध के अनन्तर और नागार्जुन, वसुबन्धु प्रभृति के आसपास आ जाता है। किन्तु यह तर्क उतना प्रबल नहीं जँचता। न्यायसूत्र में केवल मतान्तर का निरास पाया जाता है, किसी बौद्ध आचार्य का नाम नहीं। हो सकता है, न्यायसूत्र में जिन सिद्धान्तों का खण्डन पाया जाता है वे बौद्धयुग से पहले भी इस देश में प्रचलित रहे हों। बृहस्पति आदि के लौकायतिक मत तो बहुत ही प्राचीन हैं। इसलिये किसी नास्तिक मतविशेष का खण्डन करना ही अर्वाचीनता का द्योतक नहीं कहा जा सकता।

गौतम के सोलह पदार्थ—गौतम का पहला सूत्र है—

"प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छल-जातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः" —न्या० सू० १।१।१

इस सूत्र में गौतम निम्नलिखित सोलह पदार्थों के नाम गिनाते हैं—

(१) **प्रमाण** (Means of Knowledge)
(२) **प्रमेय** (Object of knowledge)
(३) **संशय** (Doubt)
(४) **प्रयोजन** (Purpose)
(५) **दृष्टान्त** (Example)
(६) **सिद्धान्त** (Conclusion)
(७) **अवयव** (Members of Syllogism)
(८) **तर्क** (Hypothesis)
(९) **निर्णय** (Verification)
(१०) **वाद** (Argument)
(११) **जल्प** (Wrangling)
(१२) **वितण्डा** (Sophistry)
(१३) **हेत्वाभास** (Fallacy)
(१४) **छल** (Cavilling)
(१५) **जाति** (Futile Refutation)
(१६) **निग्रहस्थान** (Points of Defeat)

गौतम ने उपर्युक्त सोलह पदार्थों की जो लम्बी तालिका पेश की है, उसपर काफी नुकताचीनी की गई है। अवयव, दृष्टान्त प्रभृति प्रमाण के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। फिर उनका पृथक् नाम-निर्देश क्यों किया गया? वस्तुतः देखा जाय तो **प्रमाण** और **प्रमेय** इन दोनों के अन्तर्गत ही समस्त विषय आ जाते हैं। बल्कि यों कहा जा सकता है कि केवल **प्रमेय** में ही सभी पदार्थों का अन्तर्भाव हो जाता है; क्योंकि प्रमाण आदि पदार्थ भी ज्ञान का विषय होने पर प्रमेय-कोटि में आ जाते हैं। जैसे, तुलादण्ड स्वयं मान का साधन होते हुए भी मान का विषय (परिमेय) हो सकता है।

प्रमाणस्य प्रमेयत्वं तुलाप्रामाण्यवत्

इस तरह प्रमाण प्रभृति यावतीय विवेच्यमान पदार्थ प्रमा (ज्ञान) का विषय होने के कारण प्रमेय बन जाते हैं। फिर गौतम ने सोलह नाम क्यों गिनाये?

इस प्रश्न के उत्तर में यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार कणाद ने वैशेषिक सूत्र में पदार्थों का वर्गीकरण किया है, उस प्रकार भिन्न-भिन्न मूल तत्त्वों का निरूपण करना गौतम का अभिप्राय नहीं था। वे सिर्फ उन्हीं प्रमुख विषयों की सूची (Table of contents) बतलाते हैं, जिनका सविस्तर वर्णन करना उन्हें अभीष्ट है। अतः गौतमोक्त पदार्थों को मूल पदार्थ (Category) न समझकर न्यायसूत्र के 'विवेच्य विषय' (Topic) मात्र समझना चाहिये।

न्यायसूत्र का विषय—गौतमरचित **न्यायसूत्र** न्यायदर्शन का मूलग्रन्थ है। न्याय सूत्र पाँच अध्यायों में विभक्त है। प्रत्येक अध्याय में दो 'आह्निक' (खण्ड) हैं। समस्त सूत्रों की संख्या ५०० के करीब है। न्यायसूत्र के विषय का विवरण नीचे दिया जाता है।

(१) प्रथम अध्याय

प्रथम आह्निक में पहले **प्रमाण, प्रमेय** आदि षोडश पदार्थों का नाम-निर्देश किया गया है। फिर **प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द,** इन चतुर्विध प्रमाणों के लक्षण दिये गये हैं। तदनन्तर **प्रमेय** के लक्षण और विभाग किये गये हैं। प्रमेयों के अन्तर्गत **आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म), फल, दुःख** और **अपवर्ग (मोक्ष)** का निरूपण किया गया है। तब **संशय, प्रयोजन** और **दृष्टान्त** के निरूपण के बाद **सिद्धान्त** का लक्षण और विभाग किया गया है। **सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण** और **अभ्युपगम**—ये चार प्रकार के सिद्धान्त बतलाये गये हैं। फिर न्याय के भिन्न-भिन्न अवयव **प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय,** और **निगमन,** समझाये गये हैं। तदनन्तर **तर्क** और **निर्णय** की विवेचना की गई है।

द्वितीय आह्निक में पहले **वाद, जल्प** और **वितण्डा** के लक्षण बतलाये गये हैं। फिर **हेत्वाभास** के प्रभेद दिये गये हैं। तब त्रिविध **छल** के लक्षण कहे गये हैं। अन्त में **जाति** और **निग्रहस्थान** की परिभाषा की गई है।

(२) द्वितीय अध्याय

इसमें निम्नलिखित विषय हैं—**संशय** सम्बन्धी पूर्वपक्ष और उसका समाधान—**प्रमाणचतुष्टय** सम्बन्धी पूर्वपक्ष और अन्तिम सिद्धान्त—**प्रत्यक्ष** के लक्षण में आक्षेप और उसका परिहार—**अनुमान** और **उपमान** के विषय में शंकाएँ और उनका समाधान—**शब्द** प्रमाण पर आक्षेप और उसका निराकरण—**शब्द** का **अनित्यत्व**-साधन—**व्यक्ति आकृति** और **जाति** का लक्षण।

(३) तृतीय अध्याय

इसमें मुख्यतः ये विषय हैं—**आत्मा** आदि द्वादश प्रमेयों की परीक्षा—**इन्द्रियचैतन्यवाद, शरीरात्मवाद** प्रभृति नास्तिक मतों का खण्डन—**आत्मा** का **नित्यत्व**-प्रतिपादन—**इन्द्रिय** और **विषय** का भौतिकत्व—**बुद्धि** और **मन** की परीक्षा।

(४) चतुर्थ अध्याय

इसमें **प्रवृत्ति** और **दोष** की व्याख्या—**जन्मान्तर** के सम्बन्ध में सिद्धान्त—**दुःख** और **अपवर्ग** की समीक्षा—**अवयव** और **अवयवी** का सम्बन्ध—आदि विषय वर्णित हैं।

(५) पंचम अध्याय

इसमें प्रथम आह्निक में **जाति** के चौबीस प्रभेद समझाये गये हैं। द्वितीय आह्निक में बाईस प्रकार के **निग्रह-स्थान** बतलाये गये हैं। इस तरह यह सूत्रग्रन्थ समाप्त हुआ है।

न्याय-दर्शन का क्रमिक विकास—न्यायसूत्र पर **वात्स्यायन** कृत प्रसिद्ध, प्राचीन, और प्रामाणिक **भाष्य** है। **वात्स्यायन** दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। इनका दूसरा नाम **पक्षिल स्वामी** भी मिलता है। वात्स्यायन-भाष्य देखने से पता चलता है कि उसकी रचना न्यायसूत्र के बहुत पीछे हुई है। दोनों में कई शताब्दियों का व्यवधान है। वात्स्यायन गौतम को बहुत ही प्राचीन मुनि समझते हैं। किसी-किसी सूत्र पर उन्होंने दो-दो प्रकार के वैकल्पिक अर्थ दिये हैं।*इससे सूचित होता है कि वात्स्यायन के बहुत पहले ही से न्यायसूत्र की पठन-पाठन-परम्परा चली आती थी, और कतिपय सूत्रों के भिन्न-भिन्न अर्थ भी प्रचलित थे।

*जैसे न्या० सू० १।१।५ पर।

वात्स्यायन-भाष्य में स्थान स्थान पर सूत्रों की व्याख्या में श्लोकबद्ध सिद्धान्त भी पाये जाते हैं। यह लक्षण वार्त्तिक ग्रन्थों का है। इससे जान पड़ता है कि वात्स्यायन के पूर्व से ही गौतमीय न्याय पर वाद-विवाद की परिपाटी प्रचलित थी, और विवादास्पद विषयों पर आचार्यों ने अपने-अपने सिद्धान्त स्थिर किये थे, जिनका उद्धरण भाष्य में पाया जाता है।

वात्स्यायन ने अपने भाष्य में पतञ्जलि के महाभाष्य तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी उद्धरण दिये हैं। इन्होंने जगह-जगह पर बौद्ध दार्शनिक **नागार्जुन** के आक्षेपों का भी उत्तर दिया है। इससे जान पड़ता है कि भाष्य की रचना नागार्जुन के बाद हुई है। और भाष्य में बौद्धमत का जो खण्डन किया गया है उसका प्रत्युत्तर **दिङ्नागाचार्य** ने दिया है। इससे सूचित होता है कि वात्स्यायन नागार्जुन से पीछे और दिङ्नाग से पहले हुए थे। नागार्जुन का समय प्रायः ३०० ई० और दिङ्नागाचार्य का समय ५०० ई० के लगभग माना जाता है। इसलिये अधिकतर विद्वान् **वात्स्यायन-भाष्य** का रचना-काल ४०० ई० के आसपास कायम करते हैं।

वात्स्यायन के अनन्तर जो सबसे महत्त्वपूर्ण न्यायग्रन्थ प्रणीत हुआ, वह **उद्योतकर** का **न्यायवार्त्तिक** है। भाष्य पर दिङ्नागाचार्य ने जो आक्षेप किये थे उनका वार्त्तिककार ने अच्छी तरह निराकरण किया है।

बौद्धों और नैयायिकों के विवाद का इतिहास बड़ा ही मनोरंजक है। **गौतम** ने **न्याय-सूत्र** की रचना की। बौद्ध दार्शनिक **नागार्जुन** (३०० ई०) ने उसमें दोष निकाले। **वात्स्यायन** (४०० ई०) ने अपने **भाष्य** में उन दोषों का उद्धार किया। **दिङ्नागाचार्य** (५०० ई०) ने वात्स्यायन की भूलें दिखलाईं। **उद्योतकर** (६०० ई०) ने अपने **वार्त्तिक** में उनका जवाब दिया। **धर्मकीर्त्ति** (७०० ई०) ने अपने **न्यायविन्दु** नामक ग्रन्थ में वार्त्तिककार का प्रत्युत्तर किया। **धर्मोत्तर** ने न्यायविन्दु पर टीका की रचना कर दिङ्नाग और धर्मकीर्त्ति का समर्थन किया। तब उद्भट विद्वान् **वाचस्पति मिश्र** (८०० ई०) ने **न्यायवार्त्तिक-तात्पर्य-टीका** की रचना कर बौद्ध आक्षेपों का खण्डन करते हुए न्यायवार्त्तिक का उद्धार किया। जैसा ये स्वयं कहते हैं—

इच्छामि किमपि पुण्यं दुस्तरकुनिबन्धपंकमग्नानाम्।

उद्योतकरगवीनामतिजरतीनां समुद्धरणात्।

वाचस्पति मिश्र अद्वितीय विद्वान् थे। इनका जन्म मिथिला-प्रान्त के एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण-वंश में हुआ था। ये अपूर्व प्रतिभाशाली थे। इनकी प्रगति सभी शास्त्रों में समान रूप से थी। प्रायः ऐसा कोई दर्शन नहीं जिसपर इन्होंने भाष्य अथवा टीका की रचना नहीं की हो। और जिस विषय को इन्होंने लिया है उसीमें अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य का परिचय दिया है।

सांख्य पर इनकी **सांख्यतत्त्वकौमुदी** देखिये तो मालूम होगा कि ये सांख्यमत के कट्टर समर्थक हैं। वेदान्त पर इनकी **भामती** टीका पढ़िये तो ज्ञात होगा कि ये घोर वेदान्ती हैं। और न्याय पर इनकी **तात्पर्यटीका** देखिये तो जान पड़ेगा कि ये प्रचण्ड नैयायिक हैं। इस लिये ये **षड्दर्शनवल्लभ** या **सर्वतन्त्रस्वतन्त्र** नाम से विख्यात हैं। इनकी स्त्री का नाम **भामती** था। इन्हींके नाम पर इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर **भामती** नामक टीका की रचना की है। स्थान-स्थान पर इन्होंने अपने गुरु **त्रिलोचन** का भी नामोल्लेख किया है।

वाचस्पति मिश्र का जन्म नवीं शताब्दी में हुआ था। बौद्धों के प्रबल आक्रमण से न्याय शास्त्र का उद्धार करना इन्हीं जैसे दुर्द्धर्ष महारथी का काम था। न्याय-साहित्य में इनकी **तात्पर्यटीका** का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसी कारण ये **तात्पर्याचार्य** कहे जाते हैं। न्यायदर्शन पर इनकी दो और कृतियाँ मिलती हैं (१)—**न्यायसूत्रोद्धार** और (२) **न्यायसूची-निबन्ध**। ये दोनों ग्रन्थ भी बहुत उपयोगी हैं। न्यायसूचीनिबन्ध के अन्त में ग्रन्थ का रचना-काल यों वर्णित है—

न्यायसूचीनिबन्धोऽसौ अकारि सुधियां मुदे।
श्रीवाचस्पतिमिश्रेण वस्वंकवसुवत्सरे।

इसके अनुसार ग्रन्थप्रणयन काल ८९८ संवत् निकलता है। इस श्लोक से वाचस्पति मिश्र के समय के विषय में सन्देह नहीं रह जाता।

वाचस्पति मिश्र के बाद न्याय के आकाश में एक और जाज्वल्यमान नक्षत्र का उदय हुआ। ये थे **उदयनाचार्य**। ये **न्यायाचार्य** नाम से भी प्रख्यात हैं। इन्होंने न्याय-साहित्य के भंडार को अपने अनुपम रत्नों से परिपूर्ण कर दिया है। नीचे इनकी प्रसिद्ध कृतियों के नाम दिये जाते हैं—

(१) **तात्पर्यपरिशुद्धि**—इसमें वाचस्पतिकृत तात्पर्यटीका के कठिन अंशों की सूक्ष्म व्याख्या है। पण्डित-मण्डली में इसका बड़ा आदर है।

(२) **न्यायकुसुमाञ्जलि**—इसमें चमत्कृत युक्तियों के द्वारा ईश्वर का अस्तित्व प्रमाणित किया गया है। ईश्वरवाद का यह सबसे प्रसिद्ध और सुन्दर ग्रन्थ समझा जाता है। नास्तिक बौद्धों के कुतर्कों का मुँहतोड़ जवाब देते हुए उदयनाचार्य ने अनीश्वरवादियों से ईश्वर की रक्षा की है। इस विषय में उनकी गर्वोक्ति सुनने लायक है—

"ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्त्तसे
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः।"

ये ईश्वर को संबोधित कर कहते हैं—"तुम अपने घमंड में फूले बैठे हो। मेरी परवा क्यों करने लगे? पर इतना जान रक्खो कि नास्तिक बौद्धों के चंगुल से तुमको छुड़ानेवाला मेरे सिवा और कोई नहीं है।"

(३) **आत्मतत्त्वविवेक**—इसमें आत्मा के अस्तित्व का युक्तिपूर्ण प्रतिपादन किया गया है। आर्यकीर्त्ति प्रभृति अनात्मवादी बौद्धों के मत की इसमें भरपूर खिल्ली उड़ाई गई है। इसलिये यह ग्रन्थ *बौद्धधिक्कार* नाम से भी प्रसिद्ध है।

(४) **किरणावली**—यह प्रशस्तपाद के भाष्य (वैशेषिक) पर पाण्डित्यपूर्ण टीका है।

(५) **न्यायपरिशिष्ट**—इसमें न्याय-वैशेषिक के विविध विषयों की सूक्ष्म आलोचना की गई है। इसका दूसरा नाम *'प्रबोधसिद्धि'* भी है।

(६) **लक्षणावली**—इसमें न्यायमतानुसार लक्षण निर्धारित किये गये हैं। इस ग्रन्थ के शेष में रचना-काल इस प्रकार दिया हुआ है—

तर्काम्बराङ्कप्रमितेष्वतीतेषु शकान्ततः

वर्षेषूदयनश्चक्रे सुबोधां लक्षणावलीम्।

इसके अनुसार ९०६ शकाब्द का समय निकलता है। उदयनाचार्य मैथिल ब्राह्मण थे। दरभंगा जिले में 'करियन' नामक एक गाँव है। वही इनका जन्म-स्थान माना जाता है। भक्तिमाहात्म्य नामक ग्रन्थ में इनकी प्रशंसा में यह श्लोक मिलता है—

भगवानपि तत्रैव मिथिलायां जनार्दनः।

श्रीमदुदयनाचार्यरूपेणावततार ह (३१।२३)

दसवीं शताब्दी में न्याय के दो और प्रसिद्ध ग्रन्थकार हुए हैं—(१) **जयन्त भट्ट** और (२) **भासर्वज्ञ**।

जयन्त भट्ट ने गौतम के चुने हुए सूत्रों पर अपनी स्वतन्त्र टीका की है जो **न्यायमंजरी** नाम से प्रसिद्ध है। न्यायमंजरी जयन्त के समय में ही इतनी लोकप्रिय हो उठी कि जयन्त भट्ट वृत्तिकार कहलाने लगे।

भासर्वज्ञ प्रायः काश्मीरी ब्राह्मण थे। इन्होंने **'न्यायसार'** नामक मौलिक ग्रन्थ की रचना की है। इसमें न्याय का सारभाग वर्णित है। इसकी विशेषता यह है कि लेखक ने जगह-जगह पर न्याय की प्राचीन परिपाटी का उल्लङ्घन कर दिया है। जैसे, न्यायानुमोदित चार प्रमाण न मानकर इन्होंने तीन ही प्रमाण माने हैं और उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण स्वीकृत नहीं किया है। इसी तरह इन्होंने *अनध्यवसित* नामक एक छठा हेत्वाभास भी माना है।

न्याय और वैशेषिक का ऐसा सम्मिश्रण होता आया है कि दोनों के साहित्य का पृथक्करण करना कठिन है। **शिवादित्य** की **सप्तपदार्थी**, **वरदराज** की **तार्किकरक्षा**, **केशव मिश्र** की **तर्कभाषा**, ये सब न्याय-वैशेषिक की उभयनिष्ठ पुस्तकें हैं।

१२ वीं शताब्दी में मिथिला देश में एक ऐसे महाविद्वान् का आविर्भाव हुआ जिन्हों ने न्याय के क्षेत्र में युगान्तर उपस्थित कर दिया। इनका नाम था **गंगेश उपाध्याय**। इन्होंने अपनी विलक्षण बुद्धि और असाधारण प्रतिभा के बल पर न्यायशास्त्र की शैली और विचारधारा में अद्भुत परिवर्त्तन कर दिखाया। यहाँ तक कि इनका निरूपित न्याय **नव्य न्याय** कहलाने लगा। इनका रचित **'तत्त्वचिन्तामणि'** नव्य न्याय का प्रथम और आधारभूत ग्रन्थ है। इसमें चार खण्ड हैं—(१) *प्रत्यक्षखण्ड* (२) *अनुमानखण्ड* (३) *शब्दखण्ड* और (४) *उपमान खण्ड*। 'तत्त्वचिन्तामणि' सचमुच चिन्तामणि स्वरूप है। इसमें *प्रामाण्यवाद*, *प्रत्यक्षकरणवाद*, *मनोऽणुतत्त्ववाद*, *व्याप्तिग्रहोपाय* आदि गहन विषयों की ऐसी गंभीर मीमांसा की गई है, जिसे देखकर बड़े-बड़े मेधावी विद्यादिग्गजों की बुद्धि चकरा जाती है। यह ग्रन्थ गूढ़ विषयों का रत्नभाण्डागार है।

प्राचीन न्याय मुख्यतः *पदार्थ शास्त्र* था; नव्य न्याय मुख्यतः *प्रमाण शास्त्र* रह गया। प्राचीन न्याय में जहाँ केवल सीधीसादी भाषा में *उद्देश*, *लक्षण* और *परीक्षा* का व्यवहार था, वहाँ नव्य न्याय में *अवच्छेदक-अवच्छेद्य*, *निरूपक-निरूप्य*, *अनुयोगी-प्रतियोगी*, *विषयता-प्रकारता* आदि नवीन शब्दों का प्रयोग होने लगा। इन जटिल लच्छेदार शब्दों की सृष्टि से न्याय की भाषा अत्यन्त ही दुरूह और क्लिष्टबोध्य हो उठी। किन्तु यह कोरा आडम्बरपूर्ण वाग्जाल ही नहीं था। नवीन पारिभाषिक शब्दों से सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों का विश्लेषण आसानी के साथ होने लग गया।

गंगेश के **'तत्त्वचिन्तामणि'** पर जितनी टीकाएँ लिखी गई हैं उतनी बहुत ही कम ग्रन्थों पर होंगी। उनका यह ग्रन्थ **'चिन्तामणि'** या केवल **'मणि'** नाम से भी नैयायिकों के बीच में प्रसिद्ध है।

गंगेश उपाध्याय के सुपुत्र **वर्द्धमान उपाध्याय** प्रसिद्ध टीकाकार हुए हैं। इन्होंने **'मणि'** पर टीका लिखी है। इन्होंने उदयनाचार्यकृत न्यायकुसुमाञ्जलि पर भी टीका की है जो **'कुसुमाञ्जलिप्रकाश'** नाम से विख्यात है। उदयनाचार्य की न्यायतात्पर्यपरिशुद्धि पर इनकी **'न्यायनिबन्ध प्रकाश'** नामक टीका है। वल्लभाचार्यरचित *'न्यायलीलावती'* पर इनकी **लीलावतीकंठाभरण** नामका टीका है।

तेरहवीं शताब्दी में मिथिला ने एक और उद्भट नैयायिक को जन्म दिया। इनका नाम था **पक्षधर मिश्र**। कहा जाता है ये जिस पक्ष को लेते थे उसे विना सिद्ध किये नहीं छोड़ते थे। इनके विषय में लोकोक्ति है—

"पक्षधरप्रतिपक्षी लक्षीभूतो न च क्वापि।"

ये नव्यन्याय के धुरन्धर आचार्य थे। तत्त्व-चिन्तामणि पर इन्होंने **मण्यालोक** नामक व्याख्या लिखी है, जो बहुत ही प्रसिद्ध है। इनके शिष्य **रुचिदत्त** ने वर्द्धमान के कुसुमाञ्जलि-प्रकाश पर **'मकरन्द'** नामक टीका की रचना की।

प्राचीन न्याय के जन्मदाता **गौतम** और *नव्यन्याय* के प्रवर्त्तक **गंगेश** दोनों को उत्पन्न करने का श्रेय *मिथिला* ही को है। अतः मिथिला न्याय की जन्मभूमि मानी जाती है। **वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य, पक्षधर मिश्र, रुचिदत्त, शंकर** प्रभृति मिथिला के विद्वद्रत्न थे। इनके विषय में यह श्लोक आज भी मिथिला में प्रसिद्ध है—

शंकरवाचस्पत्योः शंकरवाचस्पती सदृशौ

पक्षधरप्रतिपक्षी लक्षीभूतो न च क्वापि।

दूर-दूर देशों के लोग यहाँ न्याय पढ़ने के लिये आते थे और वर्षों के उपरान्त पण्डित बन कर यहाँ से लौट जाते थे। 'भक्तिमाहात्म्य' नामक ग्रन्थ में इसका स्पष्ट वर्णन पाया जाता है।

अद्यापि मिथिलायां तु तदन्वयभवा द्विजाः

विद्वांसः शास्त्रसम्पन्नाः पाठयन्ति गृहे गृहे (३१।८१)

यह गुरु-शिष्य-परम्परा पन्द्रहवीं शताब्दी तक कायम रही। इसके अनन्तर **वासुदेव सार्वभौम** प्रभृति वंगीय विद्वानों ने मिथिला से विद्यार्जन कर *नवद्वीप* में विद्यापीठ स्थापित किया। धीरे-धीरे यही नवद्वीप (नदिया) न्याय के अध्ययन-अध्यापन का केन्द्र-स्थल हो गया। इसकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल गई और नव्य न्याय का पौधा इस भूमि में पनप कर खूब ही शाखा-पल्लवयुक्त होकर बढ़ने लगा।

नदिया विद्यापीठ की स्थापना सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभ में हुई। इसके संस्थापक **वासुदेव सार्वभौम** न्यायशास्त्र के धुरन्धर आचार्य थे। इनकी **तत्त्वचिन्तामणिव्याख्या** इनके प्रकाण्ड पाण्डित्य की परिचायिका है।

वासुदेव सार्वभौम के शिष्य भी वैसे ही यशस्वी निकले। चैतन्य महाप्रभु का नाम बंगाल के घर घर में प्रसिद्ध है। ये इन्हींके शिष्य थे। दूसरे शिष्य **रघुनाथ तर्कशिरोमणि** अपने समय में (१६ वीं शताब्दी में) देश के समस्त नैयायिकों में शिरोमणि थे। इन्होंने न्याय के भंडार को अपनी विद्वत्तापूर्ण टीकाओं से अत्यन्त ही समृद्धिशाली बना दिया। इनकी सबसे प्रसिद्ध टीका है **'मण्यालोक'** पर, जो **'मण्यालोकदीधिति'** अथवा केवल **'दीधिति'** नाम से प्रख्यात है।

रघुनाथ तर्कशिरोमणि के सबसे प्रसिद्ध शिष्य हुए **मथुरानाथ तर्कवागीश**। इन्होंने **मणि** और **दीधिति** पर जो टीकाएँ की हैं वे बहुत ही प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं।

सत्रहवीं शताब्दी में नवद्वीप विद्यापीठ के दो दुर्द्धर्ष महारथी न्याय के प्राङ्गण में आये। ये थे **जगदीश** और **गदाधर**। न्यायशास्त्र के दुर्गम कानन में ये दोनों केसरी-स्वरूप थे। नव्यन्याय में ये अपना सानी नहीं रखते थे। **'दीधिति'** की टीका-रचना में दोनों ने अपना-अपना चमत्कार दिखलाया है। जगदीशकृत टीका **जागदीशी** और गदाधरकृत टीका **गादाधरी** नाम से प्रसिद्ध है।

जगदीश ने प्रशस्तपाद भाष्य पर भी टीका की है जो **भाष्यसूक्ति** कहलाती है। इसके सिवा **तर्कामृत** और **शब्दशक्तिप्रकाशिका** भी इनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। एतदतिरिक्त *'अनुमिति रहस्य'* *'अवेच्छेदकत्वनिरुक्ति'* प्रभृति इनके पचासों स्फुट निबन्ध भी मिलते हैं।

गदाधर ने अपनी अमूल्य कृतियों से न्याय के भंडार को जितना भरा है उतना शायद और किसीने नहीं। गादाधरी टीका के अतिरिक्त इन्होंने **मूलगादाधरी** भी लिखी है जिसमें **मणि** के प्रमुख अंशों की व्याख्या है। उदयनाचार्य कृत **आत्मतत्त्व विवेक** पर भी इनकी टीका पाई जाती है। इसके सिवा *व्युत्पत्तिवाद*, *शक्तिवाद* आदि विषयों पर इनके सैकड़ों स्फुट निबन्ध हैं।

आज भी नव्यन्याय के विद्यार्थी *जागदीशी* और *गादाधरी* की रट लगाते हैं। नव्यन्याय की उपमा एक विशाल वटवृक्ष से दी जा सकती है, जिसकी जड़ मिथिला में रोपी गई। उससे *तत्त्वचिन्तामणि* रूपी धड़ उत्पन्न हुआ। उसकी शाखाएँ दूर दूर तक जा फैलीं और बंगाल में *दीधिति* रूपी बरोह की उत्पत्ति उससे हुई। उसीमें फले हुए फल *जागदीशी* और *गादाधरी* आज भी न्यायरसिकों को रसास्वादन करा तृप्ति प्रदान करते हैं।

इसके उपरान्त जो न्याय-साहित्य तैयार हुआ वह अधिकांशतः बालकोपयोगी है। ग्रन्थकारों का ध्यान छोटे-मोटे छात्रोपयुक्त ग्रन्थों की रचना की ओर आकर्षित हुआ। इन ग्रन्थकारों में तीन के नाम अग्रगण्य हैं—(१) **शंकर मिश्र** (२) **विश्वनाथ पंचानन** और (३) **अन्नम् भट्ट**।

शंकर मिश्र मैथिल ब्राह्मण थे। इन्होंने जागदीशी पर सुगम टीका की रचना की है। वैशेषिकसूत्र पर इनका रचित **उपस्कार** बहुत ही सुबोध और उपयोगी है। शंकर मिश्र के पिता **भवनाथ मिश्र** भी धुरन्धर नैयायिक थे। ये मिथिला में **'अयाची मिश्र'** नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं। शंकर बाल्यावस्था से ही कुशाग्रबुद्धि थे। कहा जाता है, इन्होंने पाँच वर्ष की अवस्था में ही मिथिलेश को यह श्लोक बनाकर सुनाया था—

बालोऽहं जगदानन्द ! न मे बाला सरस्वती ।
अपूर्णे पञ्चमे वर्षे वर्णयामि जगत्त्रयम् ।

विश्वनाथ पंचानन वंगीय ब्राह्मण थे। इन्होंने न्यायसूत्र पर अत्यन्त ही सरल और छात्रोपयोगी **वृत्ति** की रचना की है । इसके अतिरिक्त न्यायवैशेषिक के प्रमुख सिद्धान्तों को इन्होंने पद्यबद्ध कर विद्यार्थियों के लिये बड़ा ही सुगम मार्ग बना दिया है। इस पुस्तक का नाम **'कारिकावली'** है। यह **'भाषा परिच्छेद'** के नाम से भी प्रसिद्ध है। इसमें १६८ श्लोक हैं। इन श्लोकों पर ग्रन्थकार की स्वरचित सुन्दर टीका है जो **सिद्धान्त-मुक्तावली** कहलाती है।

अन्नम् भट्ट आन्ध्रदेशीय ब्राह्मण थे। इनका रचित **तर्कसंग्रह** विद्यार्थियों के बड़े काम की चीज है। ये स्वयं कहते हैं—

बालानां सुखबोधाय क्रियते तर्कसंग्रहः

और इस काम में ये खूब ही सफल हुए हैं। आज भी न्याय के विद्यार्थी **तर्कसंग्रह** से ही श्रीगणेश करते हैं। छात्रों के लिये न्यायविषयक इतनी सरल पुस्तक प्रायः दूसरी कोई नहीं है। तर्कसंग्रह पर ग्रन्थकार की स्वरचित टीका **तर्कसंग्रहदीपिका** है। वह भी वैसी ही सरल और सुबोध है। अन्नम् भट्ट की कृति *बालगादाधरी* कहलाती है, क्योंकि इसमें गादाधरीय न्याय का सार भाग निचोड़ लिया गया है ।

अन्नम् भट्ट ने पक्षधर मिश्र के मणयालोक पर **सिद्धाञ्जन** नामक विद्वत्तापूर्ण टीका की रचना की है। इनकी प्रगति सभी शास्त्रों में समान रूप से थी। व्याकरण, मीमांसा, वेदान्त आदि भिन्न-भिन्न विषयों पर इनकी प्रतिभापूर्ण कृतियाँ देखने में आती हैं।

अन्नम् भट्ट के तर्कसंग्रह से ही आधुनिक विद्यार्थियों को न्याय का श्रीगणेश कराया जाता है। प्रायः प्रत्येक प्रान्त में यही परिपाटी प्रचलित है। इसके उपरान्त भाषा परिच्छेद और सिद्धान्त मुक्तावली का नम्बर आता है। तदनन्तर सूत्र, भाष्य, वार्त्तिक, वृत्ति आदि का अध्ययन होता है। बंगाल और मिथिला में आजकल नव्य न्याय का ही अधिकतर प्रचार है। इसके लिये जागदीशी, गादाधरी आदि टीकाएँ पाठ्य ग्रन्थ हैं।

न्याय का साहित्य-भंडार—गौतम से लेकर आजतक न्याय-दर्शन का जो विशाल साहित्य तैयार हुआ है, उसका पूरा-पूरा विवरण देना असंभव सा है। तथापि न्यायसूत्र रूपी मूलवृक्ष से किस प्रकार शाखाएँ और प्रशाखाएँ निकली हैं, इसका थोड़ा दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है।

१ गौतम कृत *न्यायसूत्र*
|
२ वात्स्यायन कृत *न्यायसूत्रभाष्य*
|
३ उद्योतकर कृत *न्यायवार्त्तिक*
|
४ वाचस्पति कृत *न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका*
|
५ उदयन कृत *न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि*
|
६ वर्द्धमान कृत *परिशुद्धिटीका (न्यायनिबन्ध प्रकाश)*
|
७ पद्मनाभ कृत *न्यायनिबन्ध प्रकाशटीका (वर्द्धमानेन्दु)*

यह तो हुई केवल एक शाखा। अब देखिये, अकेले *न्यायसूत्र* पर ही कितनी टीकाएँ लिखी गई हैं—

(क) विश्वनाथ—*न्यायसूत्रवृत्ति*
(ख) नागेश— ,,
(ग) जयन्त— ,, *(न्यायमंजरी)*
(घ) महादेव भट्ट— ,, *(मितभाषिणी)*
(ङ) राधामोहन— ,, *(न्यायसूत्रविवरण)*
(च) मुकुन्ददास— ,,
(छ) चन्द्रनारायण— ,,
(ज) अभयतिलक— ,, *(न्यायवृत्ति)*
(झ) वाचस्पति— ,, *(न्यायसूत्रोद्धार)*

अब देखिये, शाखा ग्रन्थ पर भी कितनी टीका रूपिणी उपशाखाएँ निकली हैं।

उदयनाचार्य ने *न्यायकुसुमाञ्जलि* लिखी। उसपर इतनी भिन्न-भिन्न टीकाएँ मिलती हैं।

(क) वर्द्धमान कृत *प्रकाश* नामक टीका
(ख) रुचिदत्त कृत *मकरन्द* ,, ,,
(ग) गुणानन्द कृत *विवेक* ,, ,,
(घ) गोपीनाथ कृत *विकाश* ,, ,,
(ङ) जयराम कृत *विवरण* ,, ,,
(च) वरदराज कृत *टीका*
(छ) चन्द्रनारायण कृत *टीका*

इसी प्रकार उदयन के *आत्मतत्त्व विवेक* पर **वर्द्धमान**, **मथुरानाथ**, और **हरिदासमिश्र** की अलग-अलग टीकाएँ उपलब्ध हैं।

वरदाचार्य की *तार्किकरक्षा* पर नृसिंह ठाकुर की *'प्रकाशिकाटीका'*, विनायक भट्ट की *'न्यायकौमुदी'* तथा मल्लिनाथ की *'निष्कण्टक'* नामक टीकाएँ हैं।

अब नव्यन्याय का प्रसार देखिये। प्रथमतः **गंगेश उपाध्याय** ने *तत्त्वचिन्तामणि* की रचना की। उसपर इतनी प्रमुख टीकाएँ लिखी गईं—

(क) **वासुदेव सार्वभौम कृत** *टीका*

(ख) **पक्षधर मिश्र कृत**—*तत्त्वालोक*

(ग) **हनुमान् कृत**—*हनुमदीया टीका*

(घ) **तर्कचूड़ामणि कृत**—*मणिप्रकाश*

(ङ) **रघुनाथ तर्कशिरोमणि कृत**—*तत्त्वदीधिति*

अब *तत्त्वदीधिति* को लीजिये। इसपर इतनी टीकाएँ प्रसिद्ध हैं—

(क) **जगदीश कृत**—*जागदीशी टीका*

(ख) **गदाधर कृत**—*गादाधरी टीका*

(ग) **मथुरानाथ कृत**—*मथुरानाथी टीका*

(घ) **भवानन्द कृत**—*भवानन्दी टीका*

(ङ) **शंकर कृत**—*मयूख टीका*

जागदीशी टीका की भी टीका **शंकर मिश्र** ने की है। इसी तरह *गादाधरी* टीका की टीका **रघुनाथ शास्त्री** ने की है। इस प्रकार न्याय रूपी वटवृक्ष की शाखाएँ फैलती हुई चली गई हैं।

एक डाल से कितनी डलियाँ फुटी हैं इसका एक और नमूना लीजिये। केशव मिश्र की एक प्रसिद्ध कृति है *'तर्कभाषा'*। उसपर इतनी टीकाएँ मिलती हैं—

(१) **रामलिंग कृत** *टीका*

(२) **माधवदेव** ,, ,,

(३) **सिद्धचन्द्र** ,, ,,

(४) **मुरारि** ,, ,,

(५) **माधवभट्ट** ,, ,,

(६) चिन्नभट्ट व्यंकटाचार्य कृत *चिन्नभट्टी टीका*
(७) गोवर्द्धन कृत *तर्कभाषाप्रकाश*
(८) शुभ विजय रचित *तर्कभाषाविवरण*
(९) गणेशदीक्षित कृत *तत्वप्रबोधिनी*
(१०) वागीश कृत *प्रसादिनी*
(११) गौरीकान्त कृत *भावार्थदीपिका*
(१२) विश्वनाथ कृत *न्यायविलास*
(१३) अज्ञात कृत *न्यायप्रदीप*
(१४) कौण्डिण्ड दीक्षित कृत *प्रकाशिका*
(१५) गोपीनाथ कृत *उज्ज्वला*
(१६) भास्कर कृत *दर्पण*
(१७) नागेश कृत *योगावली*
(१८) दिनकर कृत *कौमुदी*

न्याय के सुविस्तृत साहित्य की व्यापकता का अन्दाज इसीसे लग जायगा। न्याय-दर्शन पर आज तक जितनी रचनाएँ हुई हैं उन सबों का यदि अन्वेषण और संकलन किया जाय तो महाभारत से भी अधिक विशाल पोथा तैयार हो जायगा। हर्ष की बात है कि अब आधुनिक शिक्षा प्राप्त विद्वानों का ध्यान भी इस ओर जाने लगा है और बहुत-सी लुप्तप्राय कृतियाँ प्रकाश में आ रही हैं।

इस ग्रन्थ का विषय-विन्यास—गौतमोक्त षोडश पदार्थ (जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है) न्यायशास्त्र के आधारभूत विषय हैं। प्रस्तुत पुस्तक में क्रमानुसार प्रत्येक विषय को लेकर उसका विवेचन किया गया है।

न्यायशास्त्र का सर्व प्रधान विषय है *प्रमाण*। अतः सर्वप्रथम प्रमाण की विवेचना की गई है। प्रमाण के अन्तर्गत (१) *प्रत्यक्ष* (२) *अनुमान* (३) *उपमान* और (४) *शब्द* के पृथक्-पृथक् खण्ड किये गये हैं। ये प्रमाण ही आधुनिक न्याय साहित्य के आधारस्तम्भ हैं। अतः इनकी व्याख्या सविस्तर रूप से की गई है। बल्कि ग्रन्थ का अधिकांश भाग इन्हीं में लगाया गया है।

प्रमाणों के अन्तर्गत भी *अनुमान* प्रमाण नैयायिकों का सबसे मुख्य और महत्त्वपूर्ण विषय है। अतएव इस विषय की विशेष रूप से विवेचना की गई है। नव्यन्याय में

अनुमान के अङ्गीभूत विषयों का जो सूक्ष्म विश्लेषण हुआ है उसका भी यथास्थान दिग्दर्शन कराया गया है। इस कारण अनुमान का प्रकरण सबसे अधिक विस्तृत हो गया है।

प्रमाणों के अनन्तर *प्रमेय* का परिचय दिया गया है। *आत्मा* प्रभृति द्वादश प्रमेयों के लक्षण और स्वरूप बतलाये गये हैं।

तत्पश्चात् अवशिष्ट पदार्थों का (*संशय*, *पूयोजन*, *दृष्टान्त*, *सिद्धान्त*, *अवयव*, *तर्क*, *निर्णय*, *वाद*, *जल्प*, *वितण्डा*, *हेत्वाभास*, *छल*, *जाति* और *निग्रह-स्थान* का) वर्णन किया गया है। परिशिष्ट भाग में *ईश्वर*, *मोक्ष*, *पुनर्जन्म* आदि विविध विषयों की आलोचना की गई है।

प्रमाण

[प्रमाण का अर्थ—प्रमा—करण—प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण—प्रमाण का लक्षण—प्रमाण का महत्त्व—प्रमाणों की संख्या—न्याय के चतुर्विध प्रमाण]

प्रमाण का अर्थ—प्रमाण का अर्थ है,

प्रमायाः करणं प्रमाणम् ।

—तर्कभाषा

जो प्रमा का करण हो वही *'प्रमाण'* कहलाता है। उपर्युक्त परिभाषा में दो शब्द हैं, (१) प्रमा और (२) करण। अब इनके अर्थ समझिये।

(क) **प्रमा**—प्रमा का अर्थ है।

"तद्वति तत्प्रकारकानुभवः प्रमा ।"

—तर्कसंग्रह

अर्थात् जो वस्तु जैसी हो उसको उसी प्रकार की जानना ही 'प्रमा' है।

यदि आपके सामने बालू का रेतीला मैदान हो और आप उसे ठीक बालुकामय समझ रहे हैं तो आपका ऐसा अनुभव यथार्थ ज्ञान वा *'प्रमा'* कहलायगा। इसके विपरीत यदि आप उस बालुकाराशि को जल की धारा समझ बैठते हैं तो आपका ऐसा समझना अयथार्थ ज्ञान वा *'अप्रमा'* कहलायगा।

दूसरे शब्दों में यों कहिये कि जहाँ जो वस्तु है, उसे वहाँ जानना प्रमा है।

"यत्र यदस्ति तत्र तस्यानुभवः प्रमा ।"

इसके विपरीत जो वस्तु जहाँ नहीं है, उसे वहाँ कल्पित या आरोपित कर लेना 'अप्रमा' है।

"यत्र यन्नास्ति तत्र तस्य ज्ञानम् अप्रमा ।"

रज्जु के स्थान में सर्प का भान होना, सीप की जगह चाँदी का भान होना, अप्रमा वा भ्रम के उदाहरण हैं। क्योंकि वहाँ जिस विषय का बोध होता है, उसका वस्तुतः अभाव है।

विषय के वस्तुतः विद्यमान रहने पर तद्विषयक ज्ञान 'प्रमा' है। विषय का अभाव रहने पर भी वहाँ तद्विषयक ज्ञान का आभास होना 'अप्रमा' है।*

"तदभाववति तत्प्रकारकानुभवः अप्रमा।"

—तर्कसंग्रह

वात्स्यायन कहते हैं—

यदर्थविज्ञानं सा प्रमा

अर्थात् विषय की यथार्थ प्रतीति ही प्रमा है। सीप को सीप और चाँदी को चाँदी जानना प्रमा है। इसके विरुद्ध सीप को चाँदी या चाँदी को सीप जानना अप्रमा है। जो वस्तु जैसी नहीं है उसे उस प्रकार की जानना 'अप्रमा', 'भ्रम' वा 'विपर्यय' कहलाता है।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यथार्थ अनुभव वा सत्यज्ञान का नाम 'प्रमा' और अयथार्थ अनुभव वा मिथ्याज्ञान का नाम 'अप्रमा' है। *तर्ककौमुदी*कार भी यही सीधी-सादी परिभाषा देते हैं।

(प्रमाणजन्यः) यथार्थानुभवः प्रमा।
(प्रमाणाभासजन्यः) अयथार्थानुभवः अप्रमा।

(ख) **करण**—अब 'करण' शब्द पर आइये। करण का अर्थ है,

साधकतमं करणम्

—पाणिनि (१।४।४२)

क्रिया की सिद्धि में जो उपकरण सहायक होता है, वह *साधन* कहलाता है। जैसे, हरिण को वेधकर मारने में धनुष, वाण, प्रत्यञ्चा, शिकारी का हाथ, ये सब सहायक होते हैं। अतः ये सभी साधन या साधक कहे जा सकते हैं।

अब देखिये, इन सभी साधनों में भी सबसे चरम साधन कौनसा है? धनुष, प्रत्यंचा और शिकारी का हाथ क्रिया के उपकारक होते हुए भी *आरादुपकारक* अर्थात् दूरवर्त्ती कारण हैं। उनमें और क्रिया के फल (वेधन) में अन्तराल या व्यवधान है। इसलिये वे साधक होते हुए भी *'साधकतम'* नहीं कहे जा सकते।

साधकतम का अर्थ है जो साधन क्रिया का *प्रकृष्टोपकारक* अर्थात् सबसे अधिक

* तद्भावे तन्मतिः प्रमा। तच्छून्ये तन्मतिरप्रमा।

समीपवर्त्ती हो—जिसका व्यापार होते ही क्रिया की फल-निष्पत्ति हो जाय, बीच में किसी दूसरी वस्तु का व्यवधान नहीं रहे। अतः 'साधकतम' शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है—

स्वनिष्ठव्यापाराव्यवधानेन फलनिष्पादकम् इदमेव साधकतमम् ।

लघुमञ्जूषा

उपर्युक्त उदाहरण में वाण लगते ही वेधनक्रिया हो जाती है। दोनों के बीच में कोई व्यवधान नहीं रहता। इसलिये धनुष, डोरी आदि अनेक सहायक कारण होते हुए भी 'साधकतम' या 'करण' बाण ही है। इसीलिये कहा जाता है।

वाणेन हतो मृगः

अर्थात् हरिण वाण के द्वारा मारा गया। 'धनुष, डोरी या हाथ के द्वारा हरिण मारा गया' ऐसा नहीं कहा जाता।

सारांश यह कि अव्यवहित रूप से क्रिया की निष्पत्ति करनेवाला साधन *प्रकृष्टोपकारक कारण* कहलाता है। इसीका नाम *साधकतम* या *'करण'* है।

"यद्व्यापाराव्यवधानेन क्रियानिष्पत्ति स्तत्प्रकृष्टं बोध्यम् । प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं स्यात् ।

अब **प्रमाण** शब्द के अर्थ पर आइये। जो प्रमा या यथार्थ ज्ञान का कारण अथवा साधकतम हो, वही 'प्रमाण' कहलाता है।

मान लीजिये, आपके सामने वर्षा हो रही है। आप जानते हैं कि वर्षा हो रही है। यह जानने की क्रिया कैसे उत्पन्न होती है ? देखने से। देखने के साथ ही यह ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसलिये यहाँ विषय का प्रत्यक्ष दर्शन ही प्रमा का कारण अथवा प्रमाण है।

प्रमा का साधकतम कारण प्रमाण कहलाता है। विना कारण के कार्य नहीं हो सकता।* इसलिये विना प्रमाण के प्रमा नहीं हो सकती। प्रमाण के व्यापार का फल ही 'प्रमा' वा 'प्रमिति' है।

प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण—प्रमा वा ज्ञान का अस्तित्व तीन वस्तुओं की अपेक्षा रखता है। ये हैं—(१) *प्रमाता* (२) *प्रमेय* और (३) *प्रमाण*।

(क) **प्रमाता**— (Subject of Cognition)। ज्ञान का अर्थ है जानना। और जानने की क्रिया किसी चेतन व्यक्ति में ही हो सकती है। इसलिये ज्ञान का अस्तित्व *ज्ञातृसापेक्ष* है। विना ज्ञाता के ज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञाता जो ज्ञान विशेष का आधार होता है, *'प्रमाता'* कहलाता है। †

---

* कारणाभावात् कार्याभावः ।

† प्रमातृत्वं प्रमासमवायित्वम् ।

(ख) **प्रमेय**—(Object of Cognition) ज्ञान जब होगा तब किसी विषय का। निर्विषयक वा शून्य ज्ञान असंभव है। ज्ञान का व्यापार जिस विषय पर फलित होता है (अर्थात् जो विषय गृहीत वा उपलब्ध होता है) वह '*प्रमेय*' कहलाता है। ‡ घट, पट, आदि समस्त विषय जिनका हमें ज्ञान प्राप्त होता है, प्रमेय कोटि में आते हैं।

(ग) **प्रमाण** (Means of Cognition)—ज्ञाता भी रहे और ज्ञेय पदार्थ भी रहे, किन्तु यदि जानने का साधन नहीं हो तो ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। सामने घट रहते हुए भी दृष्टिहीन व्यक्ति को उसका अनुभव नहीं हो सकता। इसलिये ज्ञाता को ज्ञान-प्राप्ति का साधन होना आवश्यक है। यही साधन प्रमाण कहलाता है।

मान लीजिये, आपके सामने एक घोड़ा है। आप देख रहे हैं कि यह घोड़ा है। यहाँ आप *प्रमाता* हैं, घोड़ा *प्रमेय* है, देखना *प्रमाण* है, और 'यह घोड़ा है' ऐसा जो फलस्वरूप ज्ञान उत्पन्न होता है वह '*प्रमा*' है।

यदि केवल घोड़ा (प्रमेय) ही रहता पर उसे देखनेवाला (प्रमाता) कोई नहीं रहता, तो उपर्युक्त ज्ञान *किसको* होता? इसलिये ज्ञान के हेतु प्रमाता का होना आवश्यक है। इसी तरह यदि केवल प्रमाता ही मौजूद रहता, किन्तु उसके सामने कोई विषय नहीं रहता तो फिर ज्ञान *किसका* होता? इसलिये प्रमेय का होना भी आवश्यक है। इसी तरह, प्रमाता और प्रमेय के रहते हुए भी यदि दृष्टिशक्ति का अभाव रहता, तो फिर प्रमेय का ज्ञान *कैसे* होता? इसलिये प्रमाण का होना भी आवश्यक है। इस तरह प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण ये तीनों प्रमा के हेतु अनिवार्य हैं।

प्रमाण का लक्षण—जिस साधन के द्वारा प्रमाता को प्रमेय का ज्ञान होता है, वह 'प्रमाण' कहलाता है।

प्रमाता येनार्थं प्रमिणोति तत् (प्रमाणम्)

वात्स्यायन (१।१।१)

ज्ञाता और विषय-ज्ञान के बीच में सम्बन्ध-स्थापित करनेवाला साधन प्रमाण ही है। उदयनाचार्य कहते हैं—

मितिः सम्यक् परिच्छित्तिस्तद्वत्ता च प्रमातृता।
तदयोगव्यवच्छेदः प्रामाण्यं गौतमे मते।

—न्यायकुसुमाञ्जलि

दूसरे शब्दों में यों कहिये कि विषयज्ञान का हेतु 'प्रमाण' कहलाता है। उद्योतकर यही परिभाषा देते हैं—

‡ योऽर्थः तत्त्वतः प्रमीयते तत्प्रमेयम्।

अर्थोपलब्धिहेतुः प्रमाणम्।

—न्यायवार्त्तिक

अर्थोपलब्धि कभी-कभी भ्रमात्मक वा संशयात्मक भी हो सकती है। इसलिये जयन्त भट्ट ने उपर्युक्त परिभाषा में अर्थोपलब्धि के पहले (१) अव्यभिचारिणी और (२) असन्दिग्धा, ये दो विशेषण जोड़ दिये हैं।*

प्रमाण की परिभाषा भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न रूप से की है। † किन्तु प्रमाण का *प्रमाजनकत्व* प्रायः सभी स्वीकार करते हैं।

प्रमाण का महत्त्व—प्रमाण ही ज्ञान का मापक तुलादण्ड है। कोई ज्ञान सत्य है या असत्य इसकी जाँच करने की कसौटी प्रमाण ही है। कहा भी है,

मानाधीना मेयसिद्धिः

जिस प्रकार तराजू के पलड़े पर रखने से किसी वस्तु का परिमाण निर्धारित होता है, उसी प्रकार प्रमाण के मानदण्ड द्वारा किसी ज्ञान का मूल्य आँका जाता है।

प्रमीयते परिच्छिद्यते अनेन इति प्रमाणम्।

विना प्रमाण के कोई भी पदार्थ माननीय नहीं समझा जा सकता। इसलिये वृत्तिकार (विश्वनाथ) कहते हैं,

"प्रमाणस्य सकलपदार्थव्यवस्थापकत्वम्"

न्यायशास्त्र में प्रमाण का महत्त्व सर्वोपरि है। यहाँ तक कि न्याय का नाम ही *'प्रमाणशास्त्र'* पड़ गया है। नैयायिकगण प्रमाण को ईश्वर के समकक्ष ही समझते हैं। कहीं-कहीं तो विष्णु के अर्थ में भी प्रमाण शब्द का प्रयोग देखने में आता है। उदयनाचार्य प्रमाण की उपमा साक्षात् शिव से देते हैं। ‡

---

*"अव्यभिचारिणीम् असन्दिग्धाम् अर्थोपलब्धिम् ......।" —न्यायमञ्जरी।

† अविसंवादि विज्ञानं प्रमाणमिति सौगताः।

अनुभूतिः प्रमाणं सा स्मृतेरन्येति केचन।

अज्ञातचरतत्त्वार्थनिश्चायकमथापरे।

प्रमेयव्याप्तमपरे प्रमाणमिति मन्वते।

प्रमानियतसामग्री प्रमाणं केचिदूचिरे। —तार्किकरक्षा।

‡साक्षात्कारिणि नित्ययोगिनि परद्वारानपेक्षस्थितौ

भूतार्थानुभवे निविष्टनिखिलप्रस्ताविवस्तुक्रमः

लेशादृष्टि निमित्तदुष्टि विगमप्रभ्रष्ट शङ्कातुषः

शङ्कोन्मेषकलङ्किभिः किमपरैस्तन्मे प्रमाणं शिवः। —न्यायकुसुमाञ्जलि

प्रमाण की संख्या—प्रमाण कितने हैं? इस प्रश्न पर भिन्न-भिन्न दर्शनकारों के के भिन्न-भिन्न मत हैं। प्रमाणों की संख्या एक से लेकर आठ तक मानी गई है।

लोकायत मत के प्रवर्त्तक चार्वाक केवल एक ही प्रमाण मानते हैं। वह है *प्रत्यक्ष*। बौद्ध और वैशेषिक दो प्रमाण मानते हैं, प्रत्यक्ष और *अनुमान*। सांख्य में इन दोनों के अलावे *शब्द* प्रमाण भी माना गया है। नैयायिकगण एक चौथा प्रमाण *उपमान* भी इनमें सम्मिलित कर देते हैं। प्राभाकर मीमांसक एक पाँचवाँ प्रमाण *अर्थापत्ति* जोड़ देते हैं। भट्ट मीमांसक और वेदान्ती इन पाँचों के अतिरिक्त एक छठा प्रमाण भी मानते हैं। वह है *अभाव* या *अनुपलब्धि*। पौराणिकगण इन सब प्रमाणों के साथ-साथ *संभव* और *ऐतिह्य* नामक दो और प्रमाण मानते हैं।*

नीचे के कोष्ठक से यह बात सुस्पष्ट हो जायगी।

दर्शन	प्रमाण
चार्वाक	१ प्रत्यक्ष
वैशेषिक	१ प्रत्यक्ष, २ अनुमान
सांख्य	१ प्रत्यक्ष, २ अनुमान, ३ शब्द
न्याय	१ प्रत्यक्ष, २ अनुमान, ३ शब्द, ४ उपमान
प्रभाकर मीमांसा	१ प्रत्यक्ष, २ अनुमान ३ शब्द ४ उपमान ५ अर्थापत्ति
भट्ट मीमांसा वेदान्त	१ प्रत्यक्ष, २ अनुमान ३ शब्द ४ उपमान ५ अर्थापत्ति ६ अनुपलब्धि

* प्रमाणों की संख्या के विषय में जो मतभेद है, वह वेदान्तकारिका में इस प्रकार दिखलाया गया है—

प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणादसुगतौ पुनः।
अनुमानञ्च तच्चापि सांख्याः शब्दञ्च ते उभे।
न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानञ्च केवलम्।
अर्थापत्त्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्रभाकराः।
अभावषष्ठान्येतानि भट्टावेदान्तिनस्तथा।
संभवैतिह्ययुक्तानि इति पौराणिका जगुः।

न्याय के चतुर्विध प्रमाण—महर्षि गौतम चार प्रमाण मानते हैं—

१ प्रत्यक्ष २ अनुमान ३ उपमान और ४ शब्द

'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि'

—न्या० सू० १।१।२

मान लीजिये, किसी वन में बाघ है। अब यह ज्ञान आपको चार प्रकार से हो सकता है।

(१) अपनी आँख से बाघ को देखकर। यह *प्रत्यक्ष* प्रमाण होगा।

(२) मान लीजिये, आप बाघ को देखते नहीं हैं। किन्तु उसके गुर्राने की आवाज़ आपको सुनाई पड़ती है। इससे आपको निश्चय हो जाता है कि वन में बाघ है। यह *अनुमान* प्रमाण है।

(३) मान लीजिये, आपने बाघ को पहले कभी देखा नहीं है किन्तु इतना सुन रखा है कि वह चीते के समान होता है। अब वन में जाने पर आपको एक जन्तु विशेष दिखलाई पड़ता है जो आकार-प्रकार में चीते के सदृश है। बस, आपको बाघ का ज्ञान हो जाता है। यह *उपमान* प्रमाण है।

(४) यदि कोई जानकार और विश्वस्त आदमी जिसने अपनी आँखों से वन में बाघ को देखा हो आकर ऐसा कहे तो (विना देखे या अनुमान किये भी) वन में बाघ होने का ज्ञान प्राप्त हो जायगा। यह *शब्द* प्रमाण है।

अब इनमें प्रत्येक प्रमाण का सविस्तर परिचय आगे दिया जाता है।

प्रत्यक्ष

[प्रत्यक्ष का अर्थ—इन्द्रिय-अर्थ—सन्निकर्ष (प्राप्यकारिता)—इन्द्रियार्थसंयोग—प्रत्यक्ष की उत्पत्ति—प्रत्यक्ष के भेद—निर्विकल्प और सविकल्प प्रत्यक्ष—अलौकिक प्रत्यक्ष—सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण और योगज प्रत्यक्ष—प्रत्यभिज्ञा]

प्रत्यक्ष का अर्थ—प्रत्यक्ष की व्युत्पत्ति है, *'प्रति+अक्षणः'* अर्थात् जो आँख के सामने हो। अथवा,

"अक्षमक्षं प्रतीत्योत्पद्यते इति प्रत्यक्षम्"

आँख कान आदि इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान उत्पन्न हो वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। अतएव प्रत्यक्ष सबसे पहला प्रमाण माना जाता है। जो आँख के सामने मौजूद है, उसके लिये और प्रमाण देने की क्या आवश्यकता है? इसीलिये लोकोक्ति है—

"प्रत्यक्षे किं प्रमाणम् ?"

और-और प्रमाणों के द्वारा हम किसी वस्तु का ज्ञान तो प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु उसका साक्षात्कार नहीं कर सकते। अतः गङ्गेश उपाध्याय कहते हैं।

"प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारित्वं लक्षणम् ।"

यह लक्षण प्रत्यक्ष के सिवा और किसी प्रमाण में नहीं पाया जाता। मान लीजिये, किसी विश्वस्त व्यक्ति ने आप से कहा—"पहाड़ पर अग्नि है"। इससे आप जान गये कि वहाँ अग्नि है। यह शब्द प्रमाण हुआ। लेकिन आप चाहते हैं कि अग्नि होने का कोई लक्षण भी देखने में आवे तो अच्छा होता। उसके बाद आपने देखा कि पर्वत पर धुआँ उठ रहा है। अब आपका निश्चय और भी पक्का हो गया कि वहाँ आग है तभी तो धुआँ उठ रहा है। यह अनुमान प्रमाण हुआ। किन्तु तो भी असली वस्तु (अग्नि) से अभी तक आपका साक्षात् सम्बन्ध नहीं हुआ है। वह आपसे परोक्ष ही है। अतएव उसके विषय में लाख विश्वास होने पर भी आपके मन में *दिदृक्षा* (देखने की अभिलाषा) बनी ही हुई है। किन्तु एक दफे जब आप अपनी आँखों पर्वत पर अग्नि को देख लेते हैं तब फिर किसी बात की अपेक्षा नहीं

रहती। शंका या तर्क-वितर्क का कोई स्थल ही नहीं रह जाता। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में किसी रोशनी की ज़रूरत नहीं होती, उसी प्रकार प्रत्यक्ष दर्शन में किसी और वस्तु की जिज्ञासा नहीं रहती। जैसा वात्स्यायन कहते हैं—

"जिज्ञासितमर्थमाप्तोपदेशात् प्रतिपद्यमानो लिङ्गदर्शनेनापि बुभुत्सते। लिङ्गदर्शनानुमितं च प्रत्यक्षतो दिदृक्षते। उपलब्धेऽर्थे जिज्ञासा निवर्त्तते।"

—न्यायसूत्रभाष्य

अतएव प्रत्यक्ष निर्विवाद और निरपेक्ष होता है। वह किसी दूसरे प्रमाण की अपेक्षा नहीं करता। और-और प्रमाण भले ही उसकी अपेक्षा रखें। दूसरे शब्दों में यों कहिये कि सभी ज्ञान का मूल है प्रत्यक्ष। इसलिये प्रत्यक्ष का मूल दूसरा कोई ज्ञान नहीं कहा जा सकता। अतएव प्रत्यक्ष का लक्षण यों भी किया गया है—

"ज्ञानाकारणकं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।"

प्रत्यक्ष ज्ञान स्वयं मूलस्वरूप है। उसका कारण दूसरा ज्ञान नहीं हो सकता। अतएव जिस ज्ञान का कारण ज्ञानान्तर नहीं हो, वही प्रत्यक्ष है।

साधारणतः प्रत्यक्ष की परिभाषा यों की जाती है—

"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम्।"

अर्थात् जो ज्ञान इन्द्रिय (Sense-organ) और पदार्थ (object) के सन्निकर्ष (संयोग, Contact) से उत्पन्न हो, वह 'प्रत्यक्ष' कहलाता है।

अब इस सूत्र का एक-एक अंश लेकर अर्थ समझिये।

(१) इन्द्रिय—

इन्द्रियाँ दो प्रकार की होती हैं—(१) कर्मेन्द्रिय और (२) ज्ञानेन्द्रिय। शरीर के जो अवयव क्रिया करने में साधक होते हैं उन्हें *कर्मेन्द्रिय* कहते हैं। और जो ज्ञानप्राप्ति में साधक होते हैं उन्हें '*ज्ञानेन्द्रिय*' कहते हैं। हाथ-पैर आदि पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं और आँख कान आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं। यहाँ इन्द्रिय से ज्ञानेन्द्रिय का अर्थ समझना चाहिये। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ये हैं—

(१) *चक्षुष्* (आँख) (२) *रसना* (जीभ), (३) *घ्राण* (नाक) (४) *त्वक्* (त्वचा) और (५) *श्रोत्र* (कान)। इनसे क्रमशः (१) *रूप* (२) *रस* (३) *गन्ध* (४) *स्पर्श* और (५) *शब्द* का ज्ञान होता है। इनके आधारभूत द्रव्य हैं पंच महाभूत (१ *पृथ्वी* २ *जल* ३ *तेजस्* ४ *वायु* ५ *आकाश*)।

नोट—जिस आँख-कान को हम देखते हैं वह वास्तविक इन्द्रिय नहीं है। वह केवल इन्द्रिय का अधिष्ठान मात्र है। देखने की जो इन्द्रिय है वह आँख की पुतलियों में रहती है। हम पुतली को तो देख सकते हैं किन्तु यथार्थ इन्द्रिय को कभी नहीं देख सकते। इसी तरह श्रोत्रेन्द्रिय का अधिष्ठान है कर्णकुहर।

किन्तु हम केवल कान के छेद को देख सकते हैं, सुनने की इन्द्रिय को नहीं। पंचेन्द्रियाँ कभी प्रत्यक्ष नहीं देखी जा सकतीं। उनका ज्ञान केवल अनुमान के द्वारा होता है। लक्षणों को देखकर ही हम उनका (इन्द्रियों का) रूप निर्धारित करते हैं।

निम्नाङ्कित कोष्ठक से ये बातें स्पष्ट हो जायँगी—

इन्द्रिय	इन्द्रिय का अधिष्ठान	इन्द्रिय का कारण (भूत)	इन्द्रिय का विषय	विषय का आधार (वृत्ति)	ऐन्द्रिक ज्ञान का नाम
१ घ्राण	नासिका (नाक)	पृथ्वी (Earth)	गंध (Smell)	पृथ्वी	घ्राणज प्रत्यक्ष Olfactory Perception
२ चक्षुष्	नेत्र (आँख की पुतली)	तेजस् (अग्नि) (Light)	रूप (Sight)	१ पृथ्वी, २ अग्नि	चाक्षुष प्रत्यक्ष Visval Perception
३ रसना	जिह्वा (जीभ)	जल (Water)	रस (Taste)	१ पृथ्वी २ अग्नि ३ जल	रासन प्रत्यक्ष (Gustatory Perception)
४ त्वक्	त्वचा (शरीर का चमड़ा)	वायु (Air)	स्पर्श (Touch)	१, पृथ्वी २ अग्नि ३ जल, ४, वायु	त्वाचिक प्रत्यक्ष (Tactual Perception)
५ श्रोत्र	कर्णकुहर कान का छेद	आकाश (Ether)	शब्द (Sound)	१ पृथ्वी २ अग्नि ३ जल ४ वायु ५ आकाश	श्रावण प्रत्यक्ष (Auditory Perception)

मान लीजिये आपके सामने एक नारंगी है। आप नेत्र के द्वारा उसका रंगरूप, और आकार-प्रकार देखते हैं। यह 'चाक्षुष' प्रत्यक्ष हुआ। फिर आप उसको हाथ में लेते हैं। छूने से वह चिकनी, मुलायम और ठंढी मालूम होती है। यह 'त्वाचिक' प्रत्यक्ष हुआ। तब आप उसको नाक के पास ले जाकर सूँघते हैं; उसकी मीठी महक लेते हैं। यह 'घ्राणज' प्रत्यक्ष हुआ। इसके बाद आप एक फाँक लेकर जिह्वा पर रखते हैं। उसका स्वाद मीठा लगता है। यह 'रासन' प्रत्यक्ष हुआ। खाते-खाते जिह्वा और तालु के संघर्ष से जो शब्द उत्पन्न होता है वह आपको सुनाई देता है। यह 'श्रावण' प्रत्यक्ष हुआ।

(२) अर्थ—

प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये किसी 'वस्तु' या 'पदार्थ' का होना आवश्यक है। घट है तब तो आपको उसका प्रत्यक्षीकरण होता है। यदि घट रहता ही नहीं तो आप देखते क्या? आँख का धर्म है, देखना। किन्तु सामने कोई पदार्थ रहेगा तब तो वह देखेगी। शून्य में क्या दिखलाई पड़ेगा? इसलिये अकेली इन्द्रिय कुछ नहीं कर सकती। वाह्य पदार्थ का भी

होना आवश्यक है। जब किसी पदार्थ के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है तभी प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि होती है।

नोट—नैयायिक लोग बाह्य पदार्थ की सत्ता को स्वयंसिद्ध मानते हैं। इसको 'वस्तुवाद, (Realism) कहते हैं। वेदान्त का कहना है कि जो कुछ हम देखते हैं सब भ्रममात्र है। संसार माया है और अविद्या के कारण उसे हम सत्य मानते हैं। बाह्य पदार्थों की यथार्थ सत्ता नहीं है। केवल एक मात्र 'ब्रह्म' सत्य है और सब कुछ मिथ्या है। इस मत को मायावाद (Phenomenalism) कहते हैं। बौद्धदर्शन भी 'विज्ञानवाद' (Subjectivism) का अवलम्बन कर कहता है कि हमें जो प्रत्यक्षादि अनुभव होते हैं वे केवल मानसिक संवेदन (Sensation) मात्र हैं। मन के बाहर कोई पदार्थ नहीं। अतएव बाह्यजगत् कोई चीज़ नहीं, कल्पना मात्र है। कुछ लोग तो इससे भी आगे बढ़कर 'शून्यवाद' (Nihilism) का समर्थन करते हुए कहते हैं कि बाह्य या आन्तरिक कोई भी वस्तु नहीं है; सब कुछ शून्य है। इन मतों के विरुद्ध आवाज़ उठाते हुए न्याय-वैशेषिक दर्शन पदार्थों की सत्ता निर्विवाद मानता है। उसका कहना है कि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जितने पदार्थ जाने जाते हैं, सभी सत्य हैं और अपनी पृथक्-पृथक् सत्ता रखते हैं।

न्याय-वैशेषिक दर्शन सात पदार्थ मानता है:—

(१) *द्रव्य* (२) *गुण* (३) *कर्म* (४) *सामान्य* (५) *विशेष* (६) *समवाय* और (७) *अभाव*।*

प्रत्यक्ष के लिये *द्रव्य* का होना आवश्यक है। गुण कर्म आदि भी द्रव्य के ही आश्रित रहते हैं। अतएव उनका पृथक् प्रत्यक्ष नहीं होता, द्रव्य के साथ ही होता है। या यों कहिये कि प्रत्यक्ष ज्ञान मुख्य रूप से द्रव्य का होता है और गौण रूप से उसके गुण आदि का। आपके सामने एक गाय खड़ी है। यही आपके प्रत्यक्ष ज्ञान का मुख्य विषय है। गाय में जो शुक्लत्व (गुण) है, अथवा दौड़ना (कर्म) है, अथवा गोत्व (जाति) है, उसे आप गाय से अलग नहीं देखते।

नोट—केवल 'शब्द' मात्र ही एक ऐसा पदार्थ है जो गुण होते हुए भी स्वतंत्र रूप से प्रत्यक्ष होता है।

(२) सन्निकर्ष—

पदार्थों के साथ इन्द्रिय का जो सम्बन्ध होता है उसे *सन्निकर्ष* कहते हैं। यह कैसे होता है सो भी सुनिये। आपके सामने एक गुलाब का फूल है। आपकी चक्षुरिन्द्रिय वहाँ तक जाती है और उसके रूप का संस्कार लेकर लौटती है। अर्थात् विषय तक पहुँचकर अपना कार्य करती है। इसलिये चक्षु को *'प्राप्यकारी'* (जाकर काम करनेवाला) कहते हैं।

* इनका विशेष परिचय वैशेषिक-खण्ड के पदार्थ प्रकरण में देखिये।

इस मत को **प्राप्यकारितावाद** कहते हैं।

चाक्षुष प्रत्यक्ष के अतिरिक्त और प्रत्यक्षों में यह बात नहीं होती। शाब्दिक प्रत्यक्ष में श्रोत्रेन्द्रिय कहीं बाहर नहीं जाती। शब्द उत्पन्न होने पर वायु की तरंगों में लहराता हुआ स्वयं आपके कर्णस्थित आकाश तक पहुँच जाता है। गन्धेन्द्रिय भी बाहर नहीं जाती। सुरभित द्रव्य वा परिमल के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु ही हवा में उड़कर उसके समीप पहुँच जाते हैं। तब वह सुगन्ध लेती है।

इसी तरह रसना त्वचा आदि इन्द्रियाँ भी अपने अधिष्ठान से बाहर नहीं जातीं; अपने स्थान में रहती हैं और जब विषय से उनका सम्पर्क होता है तब वे संस्कार ग्रहण करती हैं। इसलिये कोई-कोई इन इन्द्रियों को प्राप्यकारी नहीं कहते।

जयन्तभट्ट प्रभृति कुछ आचार्यों का कहना है कि चक्षु के अतिरिक्त और-और इन्द्रियों में भी प्राप्यकारिता कही जानी चाहिये। क्योंकि वे भी तो विषय को पाकर ही संस्कार ग्रहण करती हैं। अन्तर इतना ही है कि वे स्वयं विषय के पास नहीं जातीं, विषय ही उनके पास आता है। इसलिये यदि प्राप्यकारी का अर्थ 'विषय को पाकर काम करने वाला' लिया जाय तो सभी इन्द्रियाँ ही प्राप्यकारी हैं।

नोट—बौद्ध दर्शन प्राप्यकारितावाद का जोरों में खण्डन करता है। **दिङ्नागाचार्य** ने इसके विरुद्ध ये युक्तियाँ दी हैं—

(१) चक्षुरिन्द्रिय तो शरीर का अवयव है। फिर आँख की पुतली शरीर के बाहर जाकर कैसे कार्य करेगी ?

(२) यदि चक्षुरिन्द्रिय बाहर जाती तो निकटस्थ वस्तु तुरन्त और दूर की वस्तु देर से प्रत्यक्ष होती किन्तु यह बात तो नहीं है। हम जैसे ही आँख खोलते हैं कि समीपवर्ती वृक्ष और दूरवर्ती चन्द्रमा दोनों साथ ही दिखाई पड़ते हैं। इससे सिद्ध होता है कि नेत्रेन्द्रिय कहीं बाहर नहीं जाती।

(३) यदि चक्षु में प्राप्यकारिता होती तो पर्वत जैसे विशाल पदार्थ का प्रतिबिम्ब हमारी छोटी आँख में कैसे समाता ?

(४) अबरख या सीसा के उस पार की वस्तुएं भी देखने में आती हैं। किन्तु चाक्षुरिन्द्रिय उन तक पहुँच नहीं सकती (बीच में व्यवधान होने के कारण)। अतएव चक्षु प्राप्यकारी नहीं है।

उदयनाचार्य किरणावली में इन सभी तर्कों का उत्तर क्रमशः इस प्रकार देते हैं—

(१) चक्षुरिन्द्रिय का अर्थ नेत्र की पुतली नहीं है। इन्द्रिय है तेजस्। तेजस् नेत्र से निकलकर जाता है और प्रकाशवत् जिस पदार्थ पर पड़ता उसका संस्कार ग्रहण करता है।

(२) तेजस् की गति इतनी तीव्र है कि चन्द्रमा तक पहुँचते भी उसे अणुमात्र देर नहीं होती। इसीसे हमें वृक्ष और चन्द्रमा के दर्शन में समय का अन्तर नहीं जान पड़ता।

(३) तेजस् सम्पूर्ण दृष्टिक्षेत्र में व्यापक होता है। इसलिये छोटी-बड़ी जो वस्तुएँ उसके पथ में आती हैं उनका रूपसंस्कार वह ग्रहण करता है।

(४) अबरख और सीसा पारदर्शक होने के कारण तेजस् की गतिका अवरोध नहीं करते। इससे चक्षु की प्राप्यकारिता में बाधा नहीं पड़ती।

इन्द्रियार्थ संयोग—पदार्थ का इन्द्रिय के साथ जो सम्बन्ध होता है, उसे 'इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष' कहते हैं। यह छः प्रकार का माना गया है—(१) *संयोग*; (२) *संयुक्त समवाय* (३) *संयुक्त समवेतसमवाय* (४) *समवाय* (५) *समवेत समवाय*, और (६) *विशेषण भाव*

इनमें प्रत्येक का अर्थ यहाँ समझाया जाता है।

(१) संयोग—

दो पदार्थों का विच्छेद्य सम्बन्ध (अर्थात् वह सम्बन्ध जो टूट सकता है) 'संयोग कहलाता है। जब इन्द्रिय के साथ किसी द्रव्य (जैसे घट) का संयोग होता है, तब वह *संयोग सन्निकर्ष* कहलाता है। आप आँख से गुलाब के फूल को देखते हैं। यहाँ आँख से गुलाब के फूल का जो सम्बन्ध है, वह *संयोग* का उदाहरण होगा, क्योंकि यह सम्बन्ध स्थायी नहीं है।

(२) संयुक्त समवाय—

दो पदार्थों के अविच्छेद्य सम्बन्ध को (अर्थात् उस सम्बन्ध को जो टूट नहीं सकता) *समवाय* कहते है। जैसे गुलाब का जो गुलाबी रंग है वह गुलाब से अलग नहीं किया जा सकता। दोनों में समवाय का सम्बन्ध है। जब हम गुलाब देखते हैं तब उसका समवेत (समवाययुक्त) गुलाबी रंग भी देखते हैं। यहाँ हमारी इन्द्रिय से संयोग है गुलाब का, और गुलाब में समवाय है गुलाबी रंग का। इस तरह इन्द्रिय से संयुक्त गुलाब का समवेत (गुलाबी रंग) भी प्रत्यक्ष होता है। यहाँ नेत्रेन्द्रिय के साथ गुलाबी रंग का *'संयुक्त समवाय'* सम्बन्ध है।

(३) संयुक्त समवेत समवाय

गुलाबी रंग में उसकी सामान्य जाति भी समवेत रूप से वर्त्तमान है। अतएव गुलाबी रंग के साथ-साथ आप उसकी जाति (सामान्य) को भी देखते हैं। यहाँ गुलाब आपकी इन्द्रिय से संयुक्त है। गुलाब का रंग उस संयुक्त पदार्थ (गुलाब) में समवेत है। (अर्थात् संयुक्त समवेत है।) गुलाबी रंग का सामान्य (गुलाबीपना) इस संयुक्त समवेत (गुलाबी रंग) में भी समवेत है। अर्थात् *संयुक्त समवेत समवेत* है। इसलिये गुलाब के साथ जो गुलाबीपने की जाति प्रत्यक्ष होती है, उसका इन्द्रिय के साथ *संयुक्तसमवेत समवाय* सम्बन्ध जानना चाहिये।

(४) समवाय —

शब्द आकाश का गुण है। इसलिये आकाश के साथ शब्द का समवाय सम्बन्ध है। और आकाश एक ही है। श्रवणेन्द्रिय भी कर्णकुहरस्थित आकाश ही है। अतएव उसमें भी शब्द समवेत रूप से वर्त्तमान है। इसलिये शब्द का श्रवणेन्द्रिय के साथ संयोग सम्बन्ध नहीं माना जा सकता; क्योंकि दोनों में समवाय सम्बन्ध है। इसीलिये जब आपको कोई शब्द सुनाई पड़ता है तब शब्द का इन्द्रिय के साथ संयोग नहीं कहा जा सकता। इस सम्बन्ध को समवाय ही मानना पड़ेगा। अतएव श्रावण प्रत्यक्ष में इन्द्रिय का पदार्थ (शब्द) के साथ जो सम्बन्ध होता है उसे *समवाय* जानना चाहिये।

(५) समवेत समवाय—

शब्द में उसकी जाति (शब्दत्व) समवेत रहती है। जब आप कोई शब्द सुनते हैं तब वह जाति भी प्रत्यक्ष होती है। अर्थात् समवेत पदार्थ (शब्द) में जिसका समवाय है उसके साथ भी आपकी इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है। इस सम्बन्ध को '*समवेत समवाय*' कहते हैं।

(६) विशेष्य विशेषण भाव—

जब आप किसी वस्तु का अभाव देखते हैं तो स्वतः अभाव को नहीं देखते; किन्तु उस अभाव से युक्त आधार को देखते हैं। जैसे आप देखते हैं कि जमीन पर घड़ा नहीं है।

'*घटाभाववद्भूतलम्*'।

अर्थात् भूतल घट के अभाव से युक्त है। यहाँ भूतल विशेष्य है और घटाभाव उसका विशेषण। आप विशेष्य (भूतल) के साथ साथ उसका विशेषण (घटाभाव) भी देखते हैं। अतः ऐसे प्रत्यक्ष में इन्द्रिय का पदार्थ (अभाव) के साथ जो सम्बन्ध होता है वह 'विशेषणता' कहलाता है।

नोट—अभावविषयक प्रत्यक्ष को लेकर न्याय और अन्यान्य दर्शनों में खूब ही झगड़ा है। बहुतों का मत है कि ज्ञान प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं, किन्तु अनुमान के द्वारा होता है। वेदान्त अभाव ज्ञान के लिये एक स्वतन्त्र ही प्रमाण (अनुपलब्धि) का आश्रय लेता है। न्याय इन सबके विरुद्ध अभाव ज्ञान को प्रत्यक्षमूलक बतलाता है।

प्रत्यक्ष की उत्पत्ति—उपर्युक्त पंक्तियों से सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होना आवश्यक है। किन्तु केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है। कभी-कभी इन्द्रिय और पदार्थ का सन्निकर्ष होने पर भी प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती।

मान लीजिये, आप अपने कमरे में बैठे पढ़ रहे हैं। आप पढ़ने में इतने मशगूल हैं कि और किसी बात की ओर आपका ध्यान नहीं है। कोई आता है और आप की आँख के सामने से चला जाता है। लेकिन आपको इसकी कुछ भी खबर नहीं होती। आपकी आँख ने

उसे देखा होगा जरूर, लेकिन आपका मन वहाँ नहीं था। इसलिये आप कुछ नहीं जानते। इससे सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रिय के साथ मन भी अपना कार्य करता है। यदि मन का सहयोग नहीं हो तो इन्द्रिय और विषय का सम्बन्ध होते हुए भी आपको प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होने का।

मन, इन्द्रिय और आत्मा के बीच में रहकर संदेशवाहक का काम करता है। इन्द्रिय विषय-ज्ञान लेकर आती है, मन उसको ग्रहण कर आत्मा तक पहुँचा देता है। इन्द्रिय स्वयं अपना संदेश आत्मा तक नहीं पहुँचा सकती। मन का माध्यम होना जरूरी है। आँख कान मानों प्रहरी हैं जो किले के बाहर की बातें लाकर फाटक के भीतर पहुँचा देते हैं। मन रूपी मन्त्री इन खबरों को लेकर राजा (आत्मा) तक पहुँचा देता है। यदि मन्त्री दूसरी जगह है तो प्रहरी की बात राजा तक नहीं पहुँच सकती।

जिस तरह इन्द्रिय विषय से सन्निकृष्ट होकर मन को प्रत्यक्ष ज्ञान कराती है, उसी तरह मन भी इन्द्रिय से सन्निकृष्ट होकर आत्मा को प्रत्यक्ष ज्ञान कराता है। अतएव वात्स्यायन मुनि के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान की तीन खाड़ियाँ होती हैं—

"*आत्मा मनसा संयुज्यते। मन इन्द्रियेण। इन्द्रियमर्थेन।*

(न्या० सू० भा०)

अर्थात् (१) विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होता है।
(२) इन्द्रिय के साथ मन का सम्बन्ध होता है।
(३) मन के साथ आत्मा का सम्बन्ध होता है।

तब जाकर प्रत्यक्ष ज्ञान की उपलब्धि होती है।

नोट—इन्द्रियों का जो व्यवसाय है (विषय का साक्षात्कार), मन का भी वही व्यवसाय है। अतएव मन को आभ्यन्तरिक (भीतरी) इन्द्रिय कहा जाता है। किन्तु तथापि मन और इन्द्रिय में निम्नलिखत भेद हैं—

(१) इन्द्रियाँ पंचभूतों से बनी हैं। मन अभौतिक (Immaterial) है।

(२) इन्द्रियों का विषय नियत है। (जैसे, नेत्र का विषय है रूप, कान का शब्द इत्यादि) किन्तु मन सर्वविषयक होता है।

(३) इन्द्रियाँ अनेक हैं। मन एक ही है। मन की एकता का यह प्रमाण दिया गया है कि एक ही क्षण में हम एक से अधिक प्रत्यक्ष ज्ञान का अनुभव नहीं कर सकते। आपाततः ऐसा जान पड़ता है कि एक ही समय में हम देख और सुन दोनों सकते हैं। किन्तु यथार्थतः ऐसी बात नहीं। जिस क्षण में हम देखते हैं उस क्षण में सुनते नहीं, जिस क्षण में सुनते हैं उस क्षण में देखते नहीं। किन्तु दोनों में समय का

इतना सूक्ष्म अन्तर रहता है कि *पौर्वापर्य* (Succession) के बदले *यौगपद्य* (Simultaneity) जान पड़ता है। जैसे सुई से किताब में छेद करने पर जान पड़ता है कि एक साथ ही सभी पृष्ठों में छेद हो गया। किन्तु बात ऐसी नहीं। एक पृष्ठ के बाद ही दूसरे में छेद होता है।

प्रत्यक्ष के भेद—प्रत्यक्ष की दो कोटियाँ मानी गई हैं—

(१) निर्विकल्प (Indeterminate Perception)

(२) सविकल्प (Determinate Perception)

अब इनका अर्थ समझिये।

(१) *सविकल्प*—मान लीजिये, आप एक आम का पेड़ देख रहे हैं। यहाँ जो पदार्थ प्रत्यक्ष है, उसकी संज्ञा (आम) आप जानते हैं। उसका सामान्य है वृक्षत्व (जाति = Genus)। विशेष है आम्रत्व (विशेष=Species)। पेड़ के साथ-साथ आप यह सब कुछ देख रहे हैं। आपकी इन्द्रिय का विषय (आम वृक्ष) नाम, जाति और विशेषता से युक्त होकर प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् आप केवल वस्तु का '*आकार*' ही नहीं देखते, उसका '*प्रकार*' (विशेषण) भी देखते हैं। ऐसे प्रत्यक्ष को *सविकल्प* कहते हैं।

"सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पम्"

—तर्कसंग्रह

अर्थात् जिस प्रत्यक्ष में प्रकारता (विशेषण-विशेष्यभाव) का ज्ञान हो उसे सविकल्प (विशिष्ट ज्ञान) समझना चाहिये।

(२) *निर्विकल्प*—इसके विपरीत जहाँ केवल वस्तु मात्र की ही उपलब्धि हो, उसकी प्रकारता (विशेषण) का ज्ञान नहीं हो, उसे '*निर्विकल्प*' कहते हैं।

"निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पम्।"

—तर्कसंग्रह

जैसे, अबोध शिशु जब पीपल का पेड़ देखता है, तब वह यह नहीं जानता कि यह वस्तु अमुक-अमुक नाम-गुण-सामान्य विशेष आदि से युक्त है। वह केवल स्वरूपमात्र देखता है। यह नहीं पहचानता कि यह क्या है। वह सिर्फ देखता ही है, समझता नहीं। ऐसे विशेषण ज्ञान-शून्य-प्रत्यक्ष को *निर्विकल्प* कहते हैं।

नोट—पाश्चात्य मनोविज्ञान भी इस प्रकार का भेद मानता है। केवल संवेदन मात्र Sensation कहलाता है। जब वह विशिष्टज्ञान (Meaning) से संयुक्त होता है, तब Perception कहलाता है।

निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही ज्ञान की प्राथमिक अवस्था है। क्योंकि विशिष्ट ज्ञान आरंभ ही से तो नहीं हो सकता। आप देखते हैं कि 'एक ब्राह्मण' हाथ में लाठी लिये आ रहा है।' यह

विशिष्ट ज्ञान हुआ। किन्तु यदि आपको 'एक' 'ब्राह्मण' 'हाथ' 'लाठी' 'लेना' और 'आना', इन सब का पृथक् पृथक् ज्ञान नहीं रहता, तब यह विशिष्ट ज्ञान कैसे हो सकता था? यदि ये सब उपादान पहले से आप के मन में नहीं मौजूद रहते तो आप इन सब को एक साथ मिलाते कैसे? अतः अनुमान से सिद्ध होता है कि प्रत्येक पदार्थ का विशिष्ट ज्ञान होने से पहले उसका अविशिष्ट ज्ञान होना जरूरी है। यही अविशिष्ट या निर्विकल्पक ज्ञान सविकल्पक ज्ञान का मूल है।

जब कोई पहले-पहल घट को देखता है, तब उसकी जाति (घटत्व) से परिचित नह रहता। अर्थात् वह यह नहीं जानता कि "मैं घड़ा देख रहा हूँ।" उसी अवस्था का नाम है *निर्विकल्प।*

"प्रथमतोघटघटत्वयो वैंशिष्ट्यानवगाहि ज्ञानं जायते । तदेव निर्विकल्पम् ।"

—सिद्धान्तमुक्तावली

इस अवस्था में यथार्थ प्रत्यक्षज्ञान (Cognition) नहीं होता। क्योंकि यथार्थ ज्ञान में विषयि-विषयता सम्बन्ध (Subject-Object Relation) रहता है। सो यहाँ नहीं है। किन्तु तथापि निर्विकल्प प्रत्यक्ष की उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्योंकि बीज अस्फुट होते हुए भी स्फुटित अंकुर का मूल स्वरूप होता है। इसी तरह निर्विकल्प अस्फुट ज्ञान होते हुए भी स्फुटित ज्ञान का मूल है।

निर्विकल्प के विषय में बहुत ही मतभेद है। शाब्दिकगण (वैयाकरण) निर्विकल्प ज्ञान की सत्ता ही नहीं मानते। उनका कहना है कि विना संज्ञा (नाम) के कोई ज्ञान ही नहीं हो सकता। अतएव शाब्दिकवर्णनरहित निर्विकल्प ज्ञान की कोटि में नहीं आ सकता। इसके विपरीत वेदान्ती निर्विकल्प को ही ज्ञान कहते हैं। उनके अनुसार नामरूप युक्त ज्ञान भ्रममात्र है। अनिर्वचनीय ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। बौद्धदर्शन भी इसी बात का समर्थन करता है। किन्तु न्याय-वैशेषिक मध्यम मार्ग का अनुसरण करता है और दोनों को सत्य मानता है। गौतम ने प्रत्यक्ष की परिभाषा में ये दो विशेषण भी दिये हैं—

(१) *अव्यपदेश्यम्* और (२) *व्यवसायात्मकम्।*

"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ।"

न्या. सू. १।१।४

अव्यपदेश्य का अर्थ है अनिर्वचनीय अर्थात् संज्ञाज्ञान से रहित। व्यवसायात्मक* का

---

*"यह घड़ा है।" ऐसा प्रत्यक्षज्ञान *व्यवसाय* कहलाता है। यदि इस प्रत्यक्षज्ञान का भी मानस प्रत्यक्ष हो अर्थात् "मैं देख रहा हूँ कि यह घड़ा है" तो यह *अनुव्यवसाय* कहलाता है।

अर्थ है असन्दिग्ध अर्थात् निश्चित। अतएव नवीन नैयायिक इससे यह अर्थ निकालते हैं कि गौतम ने निर्विकल्प और सविकल्प दोनों तरह के ज्ञान माने हैं।

गौतमीय सूत्र में 'निर्विकल्प' और 'सविकल्प' शब्द नहीं आये हैं। वात्स्यायन भाष्य में भी इनका नाम नहीं है। *वाचस्पति मिश्र* की *न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका* में इनका उल्लेख पहले-पहल पाया जाता है। तब से न्याय-वैशेषिक की विचार-धारा में इनका भेद प्रसिद्ध हो गया है। *गङ्गेश उपाध्याय, केशव मिश्र, भासर्वज्ञ* प्रभृति सभी विद्वानों ने अपने-अपने ग्रन्थ में इस भेद का निरूपण किया है। सांख्य और भट्टमीमांसा ने भी इस भेद को माना है।

न्याय की प्रमुख विचारधारा यही है कि निर्विकल्पक ज्ञान स्वयं प्रस्फुट प्रत्यक्ष न होते हुए भी प्रत्यक्षज्ञान का मूलरूप है। जयन्त भट्ट कहते हैं कि निर्विकल्प और सविकल्प, दोनों में वस्तु की आत्मा (Reality) एक ही रहती है। केवल भेद इतना है कि निर्विकल्प में वह *अनाख्यात* (अव्यक्त) रहती है, और सविकल्प में *आख्यात* (भाषा के द्वारा प्रकट) हो जाती है।

"तस्मात् य एव वस्त्वात्मा सविकल्पस्य गोचरः।
स एव निर्विकल्पस्य शब्दोल्लेखविवर्जितः।"

—न्याय मंजरी

लौकिक और अलौकिक प्रत्यक्ष—नवीन नैयायिकों ने प्रत्यक्ष के दो और भेद किये हैं—

(१) लौकिक प्रत्यक्ष (Normal Perception)

(२) अलौकिक प्रत्यक्ष (Supernormal Perception)

अभी तक जिसका वर्णन हो चुका है, वह लौकिक प्रत्यक्ष है। इसमें पदार्थ के साथ इन्द्रिय की साधारण रूप से प्रत्यासत्ति (सन्निकर्ष) होती है; किन्तु अलौकिक प्रत्यक्ष में पदार्थ के साथ इन्द्रिय की असाधारण या अलौकिक रूप से प्रत्यासत्ति होती है।

गङ्गेश उपाध्याय ने तीन प्रकार का अलौकिक प्रत्यक्ष बतलाया है।

(१) *सामान्य लक्षण*

(२) *ज्ञान लक्षण*

(३) *योगज*

सामान्य लक्षण—जहाँ एक वस्तु को देखने से उसकी सजातीय वस्तुओं का भी ज्ञान हो जाय, वहाँ *सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति* समझनी चाहिये। जैसे, आप चूल्हे की आग

को छूकर उष्णता का अनुभव करते हैं। इससे आपको ज्ञान हो जाता है कि "आग उष्ण होती है।" यहाँ आपने प्रत्यक्ष तो किया केवल चूल्हे की आग को, किन्तु जान लिया सभी आगों के विषय में। भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान, सभी आगों को प्रत्यक्ष करना असंभव है, तो भी आप कह देते हैं—'सभी आग उष्ण होती है।'

किस बल पर, किस आधार पर, आप ऐसा कहते हैं? *सामान्य ज्ञान* के बल पर। और यह सामान्य ज्ञान कैसे होता है? अलौकिक सन्निकर्ष से। साधारण इन्द्रिय-संयोग से आपको चूल्हे की आग का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। किन्तु इस अग्नि में जो 'अग्नित्व (सामान्य धर्म) है, वह सभी अग्नियों में मौजूद है। इस अग्नित्व का ज्ञान सामान्यलक्षण प्रत्यासत्ति के द्वारा होता है। इसी सामान्य 'अग्नित्व' के सहारे आप एक प्रत्यक्ष अग्नि से सभी परोक्ष अग्नियों को पकड़ लेते हैं। चूल्हे की आग में उष्णता अनुभव कर अग्निमात्र में उष्णता का होना जान लेते हैं। ऐसे ही ज्ञान को *सामान्य लक्षण प्रत्यक्ष* कहते हैं।

नोट—(१) सामान्य का प्रत्यक्ष ज्ञान अलौकिक चाक्षुष्य के द्वारा होता है। किन्तु सामान्य के लिये सर्वदा चाक्षुष्य (Visual Perception) की आवश्यकता नहीं रहती। सामान्य का प्रत्यक्ष स्मृति के द्वारा भी होता है।

(२) प्राचीन नैयायिक कहते हैं कि सामान्य (जाति) का प्रत्यक्ष इन्द्रिय के साथ संयुक्त समवायसन्निकर्ष के द्वारा होता है। किन्तु नव्य न्याय सामान्य ज्ञान के लिये साधारण इन्द्रिय-सन्निकर्ष पर्याप्त नहीं मानता। इसलिये अलौकिक सन्निकर्ष का आश्रय लेता है।

(३) कुछ लोग इस अलौकिक प्रत्यक्ष पर आक्षेप करते हैं। उनका कहना है कि जब एक को जानने ही से तुम सबको जान गये तब फिर बाकी ही क्या रह गया? तब तो तुम्हें अपने को सर्वज्ञ समझना चाहिये।

इसके उत्तर में जयन्त भट्ट कहते हैं कि सामान्य ज्ञान होने से ही सर्वज्ञता नहीं आती। सर्वज्ञ होने के लिये प्रत्येक विषय का विशेष ज्ञान अपेक्षित रहता है। किन्तु यहाँ तो सामान्य-मात्र का ज्ञान होता है। इसलिये अलौकिक प्रत्यक्ष सर्वज्ञता का दावा नहीं करता।

(४) सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति के द्वारा नैयायिकों ने व्याप्तिज्ञान (Generalisation) की समस्या को हल कर लिया है। इस प्रकार वे (Paradox of Induction) से बच जाते हैं। जान पड़ता है, अन्योन्याश्रय दोष (circular reasoning) से उद्धार पाने के लिये ही उन्होंने इस अलौकिक प्रत्यक्ष का आश्रय ग्रहण किया है।

(२) **ज्ञान लक्षण**—प्रत्यक्ष ज्ञान में बहुधा इन्द्रियग्राह्य विषय के साथ-साथ दूसरा विषय भी खिंचकर चला आता है। जैसे, आप कमल का पत्ता देख रहे हैं। देखते तो आप

उसका रूप ही है, किन्तु रूप के साथ-ही-साथ उसकी कोमलता का भी अनुभव आपको होता है। यहाँ कोमलता दृष्टि का विषय तो है नहीं; स्पर्श का विषय है; तो भी आप विना स्पर्श किये ही, केवल देखने से जान जाते हैं कि पत्ता बड़ा ही कोमल है। आप कहते हैं "मैं कोमल पत्ता देख रहा हूँ।" यहाँ त्वचा को संयोग हुआ ही नहीं है। फिर कोमलता का ज्ञान कैसे हुआ? चक्षुरिन्द्रिय स्पर्श का ज्ञान नहीं कर सकती। साधारण सन्निकर्ष से यह ज्ञान प्राप्त नहीं है। अतएव यहाँ *अलौकिक सन्निकर्ष* (*ज्ञान लक्षण प्रत्यासत्ति*) मानना पड़ेगा। खट्टी इमली को देखते ही आपकी जीभ में पानी भर आता है। जाड़े में बर्फ को देखते ही आपका शरीर सिहर उठता है। ऐसा क्यों होता है? इमली का खट्टापन और बर्फ का ठंढापन देखने की चीजें नहीं हैं; क्रमशः चखने और छूने की चीजें हैं। किन्तु अलौकिक सन्निकर्ष से आपको विना चखे और छुए ही ज्ञान हो जाता है। ऐसे प्रत्यक्ष को *ज्ञान लक्षण* कहते हैं।*

योगज—हमलोगों की इन्द्रियों की शक्ति सीमित है। उनके द्वारा हम सभी तरह के विषयों को प्रत्यक्ष नहीं कर सकते। अत्यन्त सूक्ष्म वस्तुएँ नहीं देखी जा सकतीं। अत्यन्त सूक्ष्म शब्द नहीं सुने जा सकते। भूत और भविष्यत् की बातें प्रत्यक्ष नहीं की जा सकतीं। किन्तु योग के द्वारा अलौकिक सन्निकर्ष से ये सब विषय भी प्रत्यक्ष हो सकते हैं। इन्हें *योगज* प्रत्यक्ष कहते हैं।

प्रत्यभिज्ञा—प्रत्यभिज्ञा की व्युत्पत्ति है, "*प्रतिगता अभिज्ञाम्*"। जिस विषय का पूर्व में साक्षात्कार हो चुका है, उसका पुनः प्रत्यक्ष होने से *प्रत्यभिज्ञा* (Recognition) होती है। साधारण प्रत्यक्ष इन्द्रियज होता है, किन्तु प्रत्यभिज्ञान इन्द्रिय और पूर्वसंस्कार इन दोनों के योग से उत्पन्न होता है। इसलिये प्रत्यभिज्ञा का लक्षण है—

"*इन्द्रियसहकृतसंस्कारजन्यज्ञानत्वम्*"

प्रत्यभिज्ञा में वर्त्तमान संवेदन (Sensation) पर अतीत की स्मृति का एक गहरा रंग चढ़ जाता है। "यह वही घट है जिसे पहले देखा था" ऐसा ज्ञान ही प्रत्यभिज्ञान है।

साधारण प्रत्यक्ष केवल वर्त्तमानावगाही होता है, किन्तु प्रत्यभिज्ञा में वर्त्तमान और अतीत दोनों के संस्कारों का सम्मिश्रण हो जाता है। यही प्रत्यभिज्ञा की विशेषता है। अतः प्रत्यभिज्ञा की परिभाषा यों की जाती है—

अतीतावस्थावच्छिन्नस्य वर्त्तमानभेदावगाहि प्रत्यक्षज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्

---

*नोट—पाश्चात्य मनोविज्ञान में इसे Acquired Perception कह सकते हैं।

अनुमान

[अनुमान का अर्थ—व्याप्ति—पक्षधर्मता—लिंगपरामर्श—अनुमिति—अनुमान के पंचावयव—न्यायप्रयोग—अनुमान के प्रभेद—पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट—स्वार्थानुमान और परार्थानुमान—नव्यन्याय के अनुसार वर्गीकरण—केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी, अन्वयव्यतिरेकी]

अनुमान का अर्थ—

अनु का अर्थ है पश्चात्; *मान* का अर्थ है ज्ञान। अतः अनुमान का शब्दार्थ हुआ पश्चाद्ज्ञान। यदि एक बात को जानने के पश्चात् उसी के द्वारा किसी दूसरी बात का भी बोध हो तो उसे अनुमान कहते हैं। मान लीजिये, आपने देखा' कहीं दूर पर धुआँ उठ रहा है। इससे आप तुरत समझ जाते हैं कि वहाँ आग भी है। यहाँ धुँआ प्रत्यक्ष है। किन्तु आग प्रत्यक्ष नहीं है। आपको प्रत्यक्ष वस्तु के आधार पर अप्रत्यक्ष वस्तु का भी ज्ञान हो जाता है। इसी को अनुमान कहते हैं।

उक्त उदाहरण में धुँआ क्या है मानों आग के होने का पक्का गवाह है। जिस तरह सिगनल झुकने से हम समझ जाते हैं कि गाड़ी आ रही है उसी तरह धुएँ का उठना देखकर हम समझ जाते हैं कि आग जल रही है। इसलिये धुँए को आग का चिह्न (या निशान) समझना चाहिये। इसी चिह्न को *लिंग* कहते हैं। और यह चिह्न जिस वस्तु का परिचायक रहता है, उसे *'लिंगी'* कहते हैं। उक्त उदाहरण में, धुआँ लिंग है और आग लिंगी है।

अनुमान का मूल है प्रत्यक्षज्ञान। क्योंकि अनुमान लक्षण से ही किया जाता है और यह लक्षण प्रत्यक्ष देखने में आता है। इसलिये गौतम ने अनुमान को *'तत्पूर्वकम्'* (=प्रत्यक्ष-मूलक) कहा है।

नोट—यदि लक्षण (लिंग) प्रत्यक्ष देखने में नहीं आवे, किन्तु आगम (शास्त्र) के द्वारा उसका ज्ञान उपलब्ध हो, तो भी अनुमान किया जा सकता है। इसीलिये वात्स्यायन अपने भाष्य में कहते हैं—

"प्रत्यक्षागमाश्रितमेवानुमानम्। सा अन्वीक्षा।"

अर्थात् अनुमान का अर्थ है एक बात से दूसरी बात को भी देख लेना (अनु=पश्चात्; ईक्षा=देखना।) यदि कोई बात हमें प्रत्यक्ष वा आगम के द्वारा जानी हुई है तो उससे दूसरी बात भी निकाल ले सकते हैं। इसी को अनुमान कहते हैं।

अनुमान के द्वारा हम जो बात निकालना चाहते हैं, जिस निष्कर्ष पर पहुँचना चाहते हैं, उसे साध्य कहते हैं। और जिस लक्षण के बल पर ऐसा अनुमान किया जाता है उसे हेतु

(साधन) कहते हैं। पूर्वोक्त उदाहरण में अग्नि साध्य और धूम साधन है। जिस स्थान में आप धुआँ देखते हैं और आग होने का अनुमान करते हैं उसे पक्ष कहा जाता है।

मान लीजिये, आपने देखा 'पहाड़ पर धुआँ उठ रहा है।' इससे आप नतीजा निकालते हैं कि वहाँ (पहाड़ पर) आग भी है। यह *अनुमान* हुआ। यहाँ सिद्ध क्या करना है? आग का होना। यह (आग) *साध्य* हुआ। किस लक्षण के बल पर आप ऐसा सिद्ध करना चाहते हैं? धुएँ के बल पर। यह (धुआँ) हेतु हुआ। वह धुआँ है कहाँ (जहाँ आप आग होने का अनुमान करते हैं)? पहाड़ पर। यह (पहाड़) पक्ष हुआ। †

व्याप्ति —

धुआँ देखकर अग्नि का अनुमान किया जाता है। क्योंकि वह अग्नि का सूचक (चिह्न) समझा जाता है। किन्तु ऐसा क्यों समझा जाता है? इसलिये कि सब जगह धुएँ के साथ आग देखने में आती है। जैसे रसोई घर में धुआँ है, तो वहाँ आग भी है। इस नियम का कहीं भी अपवाद देखने में नहीं आता। अर्थात् ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ धुआँ हो लेकिन आग नहीं हो। इसलिये हम समझते हैं कि—

यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः

"जहाँ जहाँ धुआँ रहता है वहाँ-वहाँ आग भी रहती है।" धुआँ और आग में जो यह सम्बन्ध है, उसे 'व्याप्ति' कहते हैं। यहाँ धुएँ में आग की '*व्याप्ति*' है। अर्थात् आग '*व्यापक*' है, और धुआँ '*व्याप्य*' है। *

अनुमान के लिये व्याप्तिज्ञान होना आवश्यक है। यदि धूम और अग्नि का ऐसा सम्बन्ध हमें पूर्व से ज्ञात नहीं रहता, तो पर्वत पर धूम देखकर अग्नि का अनुमान कैसे कर सकते? हम पहले से जानते हैं कि "जहाँ धुआँ रहता है वहाँ-वहाँ आग भी रहती है।" तभी तो पहाड़ पर धुआँ देखकर समझते हैं कि वहाँ भी आग होगी। जिसको इस व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है (जैसे अबोध बच्चे को) वह धूम देखकर भी कुछ नहीं समझ सकता, हेतु (धूम) के रहते हुए भी साध्य (अग्नि) को नहीं जान सकता। क्योंकि उसे हेतु और साध्य का सम्बन्ध ही नहीं मालूम है। अनुमान तभी किया जा सकता है जब हेतु और साध्य का व्याप्ति सम्बन्ध ज्ञात रहे। अतएव 'व्याप्ति ज्ञान' को ही अनुमान का आधार स्तम्भ समझना चाहिये।

---

† नोट—साध्य, हेतु और पक्ष, इन तीनों को पाश्चात्य तर्कशास्त्र में क्रमशः Major Term, Middle Term, और Minor Term कहा जाता है। किन्तु इन दोनों में थोड़ा-सा भेद पड़ता है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में शब्दों के बाह्यरूप (Form) पर अत्यधिक जोर दिया जाता है। किन्तु हमारे यहाँ मूल वस्तु (Matter) पर ही विशेष ध्यान देते हैं।

* विशेष विवरण के लिये 'व्याप्ति' का अध्याय देखिये।

पक्षधर्मता—अनुमान के लिये व्याप्तिज्ञान के साथ-ही-साथ एक और बात आवश्यक है। व्याप्तिज्ञान के द्वारा हम इतना ही कह सकते हैं कि

"जहाँ धुआँ रहता है, वहाँ आग भी रहती है।"

किन्तु इससे यह निष्कर्ष कैसे निकलेगा कि सामने किसी पहाड़ पर आग है? यदि उस पहाड़ पर धुएँ का होना नहीं मालूम है तो वहाँ आग का अनुमान कैसे हो सकता है? इसलिये, "पर्वत पर अग्नि है"

इस अनुमान के लिये दो बातों को जानने की आवश्यकता है—

(१) जहाँ धुआँ रहता है वहाँ आग रहती है (*व्याप्ति*)

(२) उस पर्वत पर धुआँ है (*पक्षधर्मता*)

पक्षधर्मता का अर्थ है पक्ष में (स्थानविशेष में) लिंग का पाया जाना। जैसे पहाड़ पर धुएँ का पाया जाना। यदि पहाड़ में यह धर्म (धुएँ का होना) नहीं पाया जाता तो हम कुछ भी अनुमान नहीं कर सकते। अतएव व्याप्तिज्ञान के साथ ही पक्षधर्मता का ज्ञान होना भी आवश्यक है।

लिंग-परामर्श—अब अनुमान किस तरह किया जाता है सो देखिये। सबसे पहले आपने देखा कि—

(१) पहाड़ पर धुआँ उठ रहा है। (*पक्षधर्मता*)

तब आपको झट स्मरण आया कि—

(२) जहाँ धुआँ रहता है वहाँ आग रहती है। (*व्याप्ति*) *

जबतक यह व्याप्तिज्ञान नहीं था, तबतक धुआँ धुआँ-मात्र था। वह किसी अन्य पदार्थ का सूचक (चिह्न) नहीं था। अतएव अनुमान की दृष्टि से उसका कुछ महत्त्व नहीं था। किन्तु अब व्याप्तिज्ञान होते ही उसमें विशेष महत्त्व आ गया। क्योंकि अब वह केवल धुआँ ही नहीं रहा, किन्तु पदार्थान्तर (आग) का परिचायक भी हो गया। अर्थात् अब उसमें 'लिंगत्व' आ गया। इसीलिये जहाँ पहले आपने इतना ही भर देखा था कि—

'पहाड़ पर धुआँ उठ रहा है' (साधारण ज्ञान)

वहाँ अब आप देख रहे हैं कि—

* नोट—व्याप्ति को अँगरेजी में 'Universal Concomitance between the Middle and the Major Terms' कहेंगे और पक्षधर्मता को 'Relation betwen the Middle and the Minor'. व्याप्तिबोधक वाक्य को Major Premise और पक्षधर्मता सूचक वाक्य को Minor Premise कहते हैं। इन दोनों को मिलाने से जो निष्कर्ष निकलता है उसे Conclusion (अनुमिति) कहते हैं। अनुमान के लिये इन दोनों का होना आवश्यक है।

'पहाड़ पर *अग्निसूचक* धुआँ उठ रहा है' (विशिष्ट ज्ञान)

इसी विशिष्ट ज्ञान को **'परामर्श** (अथवा *'लिंग-परामर्श'*) कहते हैं।

नोट— कोई-कोई इसको 'तृतीय लिंग-परामर्श' भी कहते हैं। उनके मतानुसार—

(१) पहाड़ धूमवाला है। यह प्रथम लिंग-परामर्श हुआ।

(२) धूम अग्नि का व्याप्य है—यह द्वितीय लिंग-परामर्श हुआ।

(३) पहाड़ अग्निव्याप्य धूमवाला है—यह तृतीय लिंग-परामर्श हुआ।

यहाँ प्रथम परामर्श में लिंग का सम्बन्ध पक्ष के साथ देखा जाता है। द्वितीय में, लिंग का सम्बन्ध साध्य के साथ देखा जाता है। तृतीय में साध्यसहित लिंग का सम्बन्ध पक्ष के साथ देखा जाता है। इसी अन्तिम परामर्श से यह अनुमिति निकलती है कि 'पहाड़ अग्निवाला है'।

अतः पक्षधर्मता-ज्ञान और व्याप्ति-ज्ञान, इन दोनों के सम्मिलित होने से जो विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है उसे *परामर्श* कहते हैं।

"व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानं परामर्शः।"

—तर्कसंग्रह

नोट—पक्षधर्मता से इतना ही जाना जाता है कि 'क' में 'ख' है। व्याप्ति से यह मालूम हो जाता है कि यह 'ख' 'ग' का व्याप्य भी है। अब ये दोनों मिलकर जताते हैं कि 'क' में 'ग' का व्याप्य 'ख' है। इसीलिये विश्वनाथ पंचानन (कारिकावली में) कहते हैं—

"व्याप्यस्य पक्षवृत्तित्वधीः परामर्श उच्यते।"

पक्षधर्मता से केवल दो (अर्थात् पक्ष और लिंग) का सम्बन्ध जाना जाता है। व्याप्तिज्ञान से भी केवल दो (अर्थात् लिंग और साध्य) का सम्बन्ध जाना जाता है। किन्तु इन दोनों के एक साथ मिल जाने पर तीनों (अर्थात् पक्ष, लिंग और साध्य) का सम्बन्ध जाना जाता है। इसी ज्ञान को *परामर्श* कहते हैं। अर्थात् परामृष्ट ज्ञान में पक्ष, लिंग और साध्य तीनों एक सूत्र से बँधे रहते हैं।

अनुमिति—इसी परामर्श (अथवा विशिष्ट ज्ञान) से यह अन्तिम निष्पत्ति निकलती है कि—'पहाड़ पर अग्नि है।' यही अनुमान का *फल* या *निष्कर्ष* है। इसको *'अनुमिति'* कहते हैं। अतएव अन्नम् भट्ट कहते हैं—

"परामर्शजन्यं ज्ञानमनुमितिः"

अर्थात् अनुमिति उसे कहते हैं जिसका ज्ञान परामर्श के द्वारा प्राप्त हो।

नोट—इस विषय में न्याय का मीमांसा और वेदान्त से मतभेद पड़ता है। मीमांसक और वेदान्ती कहते हैं कि व्याप्तिज्ञान और पक्षधर्म का ज्ञान हो जाने से ही अनुमिति हो जाती है। इन दोनों के बीच

में परामर्श की जरूरत ही क्या है ? व्याप्ति के द्वारा हमें लिंग और लिंगी का सम्बन्ध मिल जाता है। पक्षधर्मता से लिंग और पक्ष का सम्बन्ध मिल जाता है। बस, फिर आप-से-आप पक्ष और लिंगी का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। लिंग-परामर्श का कुछ काम ही नहीं है।*

इसके उत्तर में नैयायिकों का कहना है कि प्रत्येक प्रमाण में (ज्ञान के साधन में) तीन कोटियाँ होती हैं—(१) *करण* (२) *व्यापार*, और (३) *फल*। अनुमान में व्याप्तिज्ञान और पक्षधर्मता ज्ञान को '*करण*' (साधकतम) समझना चाहिये। इस कारण से क्रिया क्या होती है ? परामर्श। इसको '*व्यापार*' समझना चाहिये। इस क्रिया अथवा व्यापार का '*फल*' क्या निकलता है ? अनुमिति। अतएव व्याप्तिज्ञान अनुमिति का कारण तो है, किन्तु उसका अव्यवहित पूर्व कारण नहीं। क्योंकि बीच में कार्य विशेष (परामर्श) का व्यवधान होता है। इस परामर्श के बाद ही फलोत्पत्ति (अनुमिति) होती है। अर्थात् अनुमिति का चरम (अन्तिम) कारण परामर्श ही है। इसलिये अनुमिति को परामर्शजन्यज्ञान समझना चाहिये।

अनुमान के पंचावयव—महर्षि गौतम ने अनुमान के पाँच अवयव (अङ्ग) माने हैं—(१) *प्रतिज्ञा* (२) हेतु (३) *उदाहरण* (४) *उपनय* (५) *निगमन*। यहाँ प्रत्येक का लक्षण और उदाहरण दिया जाता है।

१ प्रतिज्ञा—"*साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा*"

—गौ० सू० १।१।३३

जो प्रतिपाद्य विषय है उसका निर्देश करना (Enunciation of the proposition to be proved) '*प्रतिज्ञा*' कहलाता है। जैसे आपको पर्वत पर अग्नि सिद्ध करना है। अर्थात् पक्ष (पर्वत) में साध्य (अग्नि) का सम्बन्ध दिखलाना है। इसलिये अपने साधनीय विषय (पक्ष में साध्य का सम्बन्ध) को आप सबसे पहले कह सुनाते हैं—'*पर्वतो वह्निमान्*' (पर्वत अग्नियुक्त है)। यह आपकी *प्रतिज्ञा* हुई।

२ हेतु—"*(उदाहरणसाधर्म्यात्) साध्यसाधनं हेतुः*"

—गौ० सू० १।१।३४

अपनी प्रतिज्ञा को सिद्ध करने के लिये आप जिस युक्ति का आश्रय लेते हैं, अर्थात् अपने पक्ष में साध्य का अस्तित्व प्रमाणित करने के लिये आप जो साधन बतलाते हैं, वह 'हेतु' कहलाता है। आप अग्नि का अस्तित्व धूम से सिद्ध करना चाहते हैं। इसलिये अपनी

*पाश्चात्य तर्कशास्त्र भी इसी मत का प्रतिपादन करता है। लिंग (Middle Term) का कार्य है केवल पक्ष (Minor Term) और साध्य (Major Term) के बीच में पड़कर दोनों को मिला देना। जब दोनों मिल गये तब फिर लिंग की आवश्यकता ही क्या रही ? इसलिये Conclusion में सदा लिंग का अभाव (Absence of Middle Term) रहता है। पक्ष, साध्य और लिंग तीनों एक साथ नहीं रहते।

प्रतिज्ञा के समर्थन में आप कहते हैं—"*धूमवत्त्वात्*" ('क्योंकि पर्वत धूमयुक्त है')। यह आपका हेतु (Reason) हुआ।

३ उदाहरण—"*साध्यसाधर्म्यात्तद्भावी दृष्टान्त उदाहरणम्*"

—गौ० सू० १।१।३६

अपने प्रतिपाद्य विषय के समान कोई दृष्टान्त देना 'उदाहरण' कहलाता है। जैसे अपने पक्ष के समर्थन में आप रसोई-घर का दृष्टान्त देते हैं। वहाँ धुएँ के साथ आग भी रहती है। यह उदाहरण हुआ।

केवल दृष्टान्त के बल पर अनुमान सिद्ध नहीं होता। व्याप्ति का सम्बन्ध होना भी आवश्यक है। अतः उदाहरण को व्याप्ति का सूचक दृष्टान्त-मात्र समझना चाहिये। इसीलिये बाद के नैयायिकों ने इस बात को और स्पष्ट कर दिया है—

"*व्याप्तिप्रतिपादकमुदाहरणम्*।

—तर्कसंग्रह दीपिका

हेतु देने के बाद आप हेतु और साध्य का व्याप्ति-सम्बन्ध बतलाते हैं और दृष्टान्त के द्वारा उसे समझाते हैं। "*यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसः*" (जो जो धूमयुक्त है सो सो अग्नियुक्त भी है जैसे रसोई-घर)। यह आपका 'उदाहरण' (Major premise with an example) हुआ।

४ उपनय—"*उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारी (न तथेतिवा) साध्यस्योपनयः*।"

—गौ० सू० १।१।३८

हेतु और साध्य का सम्बन्ध उदाहरण के द्वारा देने के बाद अपने पक्ष में उसे खींचना (उपसंहार करना) '*उपनय*' कहलाता है। धूम और अग्नि की व्याप्ति महानस (रसोईघर) में दिखलाते हुए आप कहते हैं कि हमारे पक्ष (पर्वत) में भी ऐसा धूम (अग्नि का सूचक धूम) है। "*पर्वतोऽपि तथा (वह्निव्याप्यधूमवान्)*"। अर्थात् पर्वत भी इस (अग्नि के व्याप्य) धूम से युक्त है। यह आपका 'उपनय' (Minor premise) हुआ।

५ निगमन—"*हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्*" गौ. सू. १।१।३९

अब आपकी प्रतिज्ञा "*पर्वत अग्नियुक्त है*" सिद्ध हो जाती है। जबतक आपकी प्रतिज्ञा *साध्यकोटि* में थी (सिद्ध नहीं हुई थी), तबतक वह प्रतिज्ञामात्र थी। किन्तु अब उपर्युक्त साधन के द्वारा प्रमाणित होकर वह *सिद्धकोटि* में आ जाती है। उसको अब *प्रतिज्ञा* नहीं कहकर '*निगमन*' कहेंगे। प्रारम्भ में जो आपका प्रतिपाद्य विषय था उसे प्रतिपादित करते हुए अन्त में आप फिर एक बार उसको दुहरा देते हैं—"*पर्वतो वह्निमान्*" (पर्वत अग्नियुक्त है।) यह आपका '*निगमन*' (Conclusion) हुआ।

न्यायप्रयोग—

अतएव न्याय के अनुसार अनुमान का स्वरूप इस प्रकार हुआ—

१. पर्वत अग्नियुक्त है.........(*प्रतिज्ञा*)

२. क्योंकि वह धूमयुक्त है.........(*हेतु*)

३. जो जो धूमयुक्त है, सो सो अग्नियुक्त है,
जैसे रसोईघर.........(*उदाहरण*)

४. पर्वत भी इसी प्रकार धूमयुक्त है.........(*उपनय*)

५. इसलिये पर्वत भी अग्नियुक्त है.........(*निगमन*)

इन पाँच अवयवों से युक्त अनुमान को **'पंचावयव वाक्य'** (*महावाक्य*) अथवा **'न्याय-प्रयोग'** कहते हैं।

अनुमान के प्रभेद—महर्षि गौतम ने अनुमान के तीन प्रभेद बतलाये हैं—
(१) पूर्ववत् (२) शेषवत् (३) सामान्यतो दृष्ट—

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम् पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्टञ्च। —गौ. सू. १।१।५

इन तीनों का वास्तविक अर्थ क्या है, इस विषय को लेकर बहुत ही मतभेद चला आता है। स्वयं भाष्यकार **(वात्स्यायन)** भी सन्देह में पड़ गये हैं। उन्होंने दो भिन्न-भिन्न अर्थों की संभावना बतलाई है।

नोट—इस सन्देह का मुख्य कारण यह है कि 'पूर्ववत्' और 'शेषवत्' शब्द दो तरह से निष्पन्न हो सकते हैं। एक 'वति' (सदृशार्थक) प्रत्यय के द्वारा और दूसरे 'मतुप्' प्रत्यय के द्वारा। पहले के अनुसार पूर्ववत् का अर्थ होगा पूर्व के *समान*। दूसरे के अनुसार पूर्ववत् का अर्थ होगा पूर्ववान् अर्थात् पूर्व (कारण) *वाला*। इसी तरह शेषवत् का अर्थ होगा शेष के *समान* अथवा शेष (कार्य) *वाला*। 'सामान्यतो दृष्ट' में भी यही द्वयर्थकता है। यदि 'सामान्यतः दृष्ट' समझा जाय तो इसका अर्थ होता है 'जो साधारण तरह से देखा जाय।' किन्तु कुछ लोग इसे 'सामान्यतोऽदृष्ट' समझते हैं। इसका अर्थ होगा 'जो साधारण तरह से नहीं देखा जाय।'

यहाँ दोनों प्रकार के अर्थ दिये जाते हैं, इनमें पहले को हम सामान्य पक्ष और दूसरे को विशेष पक्ष के नाम से लिखते हैं।

१ सामान्य पक्ष—

(१) पूर्ववत्—वह है जिसमें कारण से कार्य का अनुमान किया जाय। जैसे—काले-काले बादलों का उमड़ना देखकर हम वृष्टि होने का अनुमान करते हैं।

यहाँ पूर्वभूत कारण को देखकर पश्चाद्भावी कार्य का अनुमान किया जाता है। अतएव इसको *पूर्ववत्* (कारणवाला) अनुमान कहते हैं।*

(२) शेषवत्—जहाँ कार्य से कारण का अनुमान किया जाय। जैसे, नदी में बाढ़ देखकर अनुमान करते हैं कि वर्षा हुई होगी। यहाँ शेष (अर्थात् पिछला कार्य) देखकर हम पूर्वभूत (अर्थात् पहला कारण) अनुमान करते हैं। इसलिये इसको *शेषवत्* (कार्य-वाला) अनुमान कहते हैं।

> *"कार्यात्कारणानुमानं यच्च तच्छेषवन्मतम्।*
> *तथाविधनदीपूरान्मेघोवृष्टो यथोपरि।"* —षड्दर्शनसमुच्चय

(३) सामान्यतो दृष्ट—इसका अर्थ भाष्य में स्पष्ट नहीं है। वात्स्यायन यह उदाहरण देते हैं कि सूर्य को चलते हुए हम नहीं देखते। किन्तु उसे कभी एक स्थान में देखते हैं, कभी दूसरे स्थान में। इसलिये उसके चलने का अनुमान होता है। इस बात को घड़ी की सुई के दृष्टान्त से समझिये। घंटावाली सुई का चलना कभी दिखाई नहीं देता। किन्तु धीरे-धीरे, सूक्ष्म गति से, चलकर जब वह दूसरे स्थान पर जा पहुँचती है तब स्थानान्तर में प्राप्ति होने से आप समझते हैं कि सुई गतिशील है। क्योंकि यदि कोई व्यक्ति सुबह को घर में देखा जाय और दो पहर में सड़क पर, तब क्या सिद्ध होगा? यही कि वह अवश्य चला है तभी तो घर से सड़क पर पहुँचा है।

> *'यच्च सामान्यतो दृष्टं तदेवं गतिपूर्विका।*
> *पुंसि देशान्तरप्राप्तिर्यथा सूर्येऽपि सा तथा॥"* —षड्दर्शनसमुच्चय

किन्तु इसमें और शेषवत् में कोई अन्तर नहीं मालूम पड़ता। क्योंकि यहाँ भी तो कार्य्य (स्थानान्तर प्राप्ति) से कारण (गमन) का अनुमान किया गया है।

वृत्तिकार (विश्वनाथ पंचानन) को भी यह बात खटकी है। इसलिये उन्होंने *'सामान्यतोदृष्ट'* का दूसरा ही लक्षण और उदाहरण दिया है। वे कहते हैं कि पूर्ववत् और शेषवत् में कार्यकारण सम्बन्ध के आधार पर अनुमान किया जाता है, किन्तु सामान्यतोदृष्ट में ऐसा (कारण या कार्य का) आधार नहीं रहता। दो वस्तुएँ यदि ऐसी हैं जिनमें जन्यजनकत्व (कार्य कारण का भाव) सम्बन्ध न होते हुए भी साधारणतः एक साथ रहना पाया जाय, तो एक से दूसरे का अनुमान किया जा सकता है। जैसे पृथ्वी के

---

*तत्राद्यं कारणात्कार्यमनुमानमिह गीयते।
+ + + +
वृष्टिं व्यभिचरन्तीह नैवंप्राया: पयोमुचः।
—षड्दर्शनसमुच्चय।

द्रव्यत्व का। ऐसे ही अनुमान को 'सामान्यतोदृष्ट' कहते हैं। जैसे, एक दृष्टान्त ले लीजिये। शृंग (सींग) और पुच्छ (पूंछ) में कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् न सींग पूंछ का कारण है, न पूंछ सींग का कारण है। तो भी किसी जानवर की सींग देखकर हम अनुमान कर सकते हैं कि उसे पूंछ भी होगी। क्योंकि सामान्यतः ऐसा देखा जाता है कि जिसे सींग रहती है उसे पूंछ भी रहती है। ऐसे ही अनुमान को *'सामान्यतोदृष्ट'* कहते हैं।

यह तो हुआ पहला अर्थ। अब दूसरा अर्थ लीजिये।

(१) **पूर्ववत्**—का अर्थ है पूर्व के समान। अर्थात् जैसा पूर्व के अनुभव से सिद्ध हो चुका है उसी तरह का अनुमान करना। जैसे, पहले का अनुभव बतलाता है कि धुएँ के साथ सब जगह आग रहती है। इसलिये धुआँ देखकर हम अनुमान करते हैं कि और सब जगहों की तरह यहाँ भी आग होगी। इसलिये इसको *'पूर्ववत्'* (पहले की नाईं) कहते हैं।

इस व्यापक अर्थ के अनुसार पूर्वोक्त तीनों (पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट) का इसमें समावेश हो जाता है।

(२) **शेषवत्**—का अर्थ है शेष के समान। अर्थात् छाँटते-छाँटते अन्त में जो शेष बच जाय उसी को रख लेना (Inference by gradual elimination)। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। मान लीजिये, संशय यह है कि शब्द क्या चीज है। यहाँ कई (Alternatives) विकल्प उपस्थित होते हैं। शब्द या तो (१) द्रव्य है, अथवा (२) गुण है, अथवा (३) कर्म है।

अब विवेचना करने से पता चलता है कि सभी उत्पन्न द्रव्य अनेकाश्रित होते हैं, किन्तु शब्द का आधार केवल एकमात्र आकाश है। अतः वह द्रव्य नहीं माना जा सकता। अब रह गये दो। इनमें शब्द का कर्म होना भी संभव नहीं। क्योंकि एक कर्म से दूसरे कर्म की उत्पत्ति नहीं होती। किन्तु एक शब्द दूसरे शब्द को उत्पन्न करता है (जैसे समुद्र की लहरें)। इस तरह द्रव्य और कर्म दोनों ही छट गये। अब एक ही (गुण) अवशिष्ट बच गया। इसलिये शब्द को यही शेष अर्थात् गुण समझना चाहिये। ऐसे ही अनुमान को शेषवत् कहते हैं।

(३) **सामान्यतो दृष्ट**—कितने पदार्थ ऐसे हैं जो कभी प्रत्यक्ष नहीं देखे जाते। केवल कुछ चिह्न या लक्षण ऐसा मिलता है जिससे हम उनके अस्तित्व का अनुमान करते हैं। ऐसे स्थान में लिंग के साथ लिंगी का सम्बन्ध तो कभी देखा जा ही नहीं सकता। क्योंकि लिंगी नित्य परोक्ष रहता है। किन्तु सामान्य ज्ञान से (व्याप्ति के बल पर) हम उस सम्बन्ध को स्थापित करते हुए लिंगी का अनुमान करते हैं। जैसे, आत्मा का अस्तित्व

इच्छादि के द्वारा अनुमान किया जाता है। इच्छा आदि गुण हैं। और गुण का आधार होता है द्रव्य। इस सामान्य ज्ञान के बल पर हम कह सकते हैं कि इच्छा का भी आधार अवश्य होगा। इसी आधार को हम आत्मा कहते हैं। इस तरह सामान्य सम्बन्ध के बल पर हम आत्मा का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसी को *'सामान्यतोदृष्ट'* कहते हैं।

नोट—कोई-कोई इसको 'सामान्यतोऽदृष्ट' भी कहते हैं। क्योंकि इसमें लिंगी साधारणतः अदृष्ट (अप्रत्यक्ष) पाया जाता है।

स्वार्थानुमान और परार्थानुमान—प्रयोजन के आधार पर अनुमान के दो भेद किये जाते हैं—(१) *स्वार्थानुमान* और (२) *परार्थानुमान*।

(१) स्वार्थानुमान—स्वार्थानुमान वह अनुमान है जो अपनी संशय निवृत्ति के लिये किया जाता है।

स्वीयसंशयनिवृत्तिप्रयोजनकमनुमानं स्वार्थानुमानम्

यह अनुमान केवल अपने बोध वा निश्चय के हेतु किया जाता है। अतएव इसमें प्रतिज्ञादि पंचावयव का प्रयोग नहीं किया जाता। केवल हेतु या लिंग देखकर साध्य का निश्चय कर लिया जाता है।

जैसे, कोई आदमी वारंवार के अनुभव (*भूयोदर्शन*) से यह जान जाता है कि जहाँ आग रहती है, वहीं धुआँ उठता है। अब वह किसी पहाड़ के निकट खड़ा होकर देखता है कि उसपर धुआँ उठ रहा है। यह चिह्न वा लिंग देखते ही वह समझ लेता है कि पहाड़ पर आग है। ऐसे अनुमान में प्रतिज्ञा वा उदाहरण की आवश्यकता नहीं रहती। केवल लिंग परामर्श से अनुमिति हो जाती है। यही *स्वार्थानुमान* है।*

(२) परार्थानुमान—जो अनुमान दूसरों के शंका-समाधानार्थ किया जाता है, वह *'परार्थानुमान'* कहलाता है।

परसंशयनिवृत्तिप्रयोजनकमनुमानं परार्थानुमानम्।

परार्थानुमान दूसरों को समझाने के लिये किया जाता है। अतएव इसमें प्रतिज्ञादि पाँचों अवयवों का प्रयोजन पड़ता है।

पञ्चावयवेनैव वाक्येन संशयितविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां परेषां निश्चितार्थप्रतिपादनं परार्थानुमानम्।

इन अवयवों का वर्णन पहले ही किया जा चुका है।

---

* स्वार्थानुमानस्य प्रयोजनं तु स्वस्यैवानुमितिः। तथाहि कश्चित् पुरुषः स्वयमेव भूयोदर्शनेन 'यत्र धूमस्तत्राग्निः' इति महानसादौ व्याप्तिं गृहीत्वा पर्वतसमीपं गतस्तद्गते चाग्नौ सन्दिहानः पर्वतेवर्त्तिनी मविच्छिन्नमूलामभ्रंलिहां धूमलेखां पश्यन् धूमदर्शनादुद्बुद्धसंस्कारो व्याप्तिं स्मरति।......'तस्मात् पर्वतो वह्निमानिति स्वस्यज्ञानमनुमितिरुत्पद्यते। तदेतत् स्वार्थानुमानम्।—तर्कसंग्रह।

स्वार्थानुमान *'स्वान्तः प्रति-पत्ति'* (Inner conviction) के हेतु किया जाता है। परार्थानुमान *परप्रतिपत्ति* (Persuasion of others) के हेतु किया जाता है। यही दोनों में भेद है। पहले स्वार्थानुमान के द्वारा ज्ञानोपार्जन कर, पीछे परप्रबोधनार्थ पंचावयववाक्य का प्रयोग किया जाता है। यही परार्थानुमान है।*

नव्यन्याय के अनुसार वर्गीकरण—नवीन नैयायिक अनुमान के प्रभेद इस प्रकार मानते हैं—

(१) *केवलान्वयी*

(२) *केवलव्यतिरेकी*

(३) *अन्वय व्यतिरेकी*

इसको समझने के लिये पहले *'अन्वय'* और *'व्यतिरेक'* का अर्थ जानना आवश्यक है।

(१) *अन्वय* का अर्थ है *'साहचर्य'* (Positive Concomitance) अर्थात् एक साथ होना। जहाँ *यह* है वहाँ *वह* भी है। जैसे, जहाँ धुआँ है, वहाँ अग्नि भी है।

(२) *व्यतिरेक*—का अर्थ है *'अविनाभाव'* (Negative concomitance) अर्थात् *वह* नहीं है तो *यह* भी नहीं है। जैसे, जहाँ आग नहीं है वहाँ धुआँ भी नहीं है।

धूम और अग्नि के सम्बन्ध को ले लीजिये। यहाँ अन्वय का दृष्टान्त होगा रसोईघर, क्योंकि उसमें धूम भी है, अग्नि भी है। व्यतिरेक का दृष्टान्त होगा जलाशय, क्योंकि उसमें अग्नि भी नहीं है, धूम भी नहीं है।

इसी प्रसङ्ग में *पक्ष*, *सपक्ष* और *विपक्ष* के अर्थ भी समझ लीजिये।

(१) **पक्ष**—उसको कहते हैं जिसमें साध्य का अस्तित्व सिद्ध करना है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पक्ष में साध्य का होना पहले ही से सिद्ध नहीं था। तभी तो सिद्ध करने की आवश्यकता है। अतएव पक्ष वह है जिसमें साध्य का पूर्व से निश्चय नहीं हो, अनिश्चय हो। इसीलिये अन्नम् भट्ट कहते हैं—

" संदिग्धसाध्यवान् पक्षः"

जैसे पर्वत में अग्नि को सिद्ध करना है। यहाँ पर्वत में अग्नि की संभावना है किन्तु पहले से निश्चय नहीं है। इसलिये 'पर्वत' पक्ष हुआ।

नोट—कुछ नैयायिकों का कहना है कि पक्षता के लिये साध्य विषयक सन्देह होना कोई आवश्यक नहीं है। साध्य पहले से ज्ञात रहने पर भी सिद्ध करने की आकांक्षा (*सिसाधयिषा*) हो सकती है। आकाश में मेघ को (प्रत्यक्ष) देख चुकने पर भी हम गर्जन से उसका अनुमान कर सकते

---

* यथा यत्तु कश्चित्स्वयं धूमादग्निमनुमाय परप्रत्ययार्थं पञ्चावयवोपेतमनुमानवाक्यं प्रयुंक्ते तत् 'परार्थानुमानम्'।

—तर्कसंग्रह

हैं। इसलिये साध्य का सन्देह न रहते हुए भी अनुमान किया जा सकता है। हाँ, जहाँ साध्य का होना इतना निश्चित हो कि साधन की आकांक्षा (सिसाधयिषा) भी नहीं उठ सके, वहाँ अनुमान करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अतएव कारिकावली में पक्ष की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

"सिसाधयिषया शून्या सिद्धिर्यत्र न तिष्ठति ।
स पक्षस्तत्रवृत्तित्वज्ञानादनुमितिर्भवेत् ।" *

(२) **सपक्ष**—का अर्थ है ऐसा स्थान जिसमें साध्य का होना निश्चित रूप से ज्ञात रहे। *तर्कसंग्रहकार* कहते हैं—

"निश्चित साध्यवान् सपक्षः"

जैसे, महानस (रसोईघर) में अग्नि का होना निश्चित रूप से ज्ञात है। अतएव वह *'सपक्ष'* हुआ।

(३) **विपक्ष**—का अर्थ है ऐसा स्थान जिसमें साध्य का नहीं होना (अभाव) निश्चित रूप से ज्ञात रहे।

"निश्चितसाध्याभाववान् विपक्षः"

जैसे, तालाब में अग्नि का नहीं होना निश्चित रूप से ज्ञात है। अतएव वह *विपक्ष* हुआ।

अब पूर्व विषय पर आइये। *अन्वय* का अर्थ है दोनों (साध्य साधन) का *भाव* में (अस्तित्व में) साथी होना। *व्यतिरेक* का अर्थ है दोनों का *अभाव* में साथी होना। अर्थात् यदि दोनों ही उपस्थित हैं, तो *अन्वय* हुआ। यदि दोनों ही अनुपस्थित हैं, तो *व्यतिरेक* हुआ। महानस में धूम और अग्नि दोनों हैं। यहाँ अन्वय सम्बन्ध है। पोखरे में धूम और अग्नि दोनों ही नहीं हैं। यहाँ व्यतिरेक सम्बन्ध है। अतएव *सपक्ष* को *अन्वय* का दृष्टान्त समझना चाहिये। *विपक्ष* को *व्यतिरेक* का दृष्टान्त समझना चाहिये।

अब अनुमान के पूर्वोक्त प्रभेद सुगमतापूर्वक समझ में आ सकते हैं।

(१) **अन्वयव्यतिरेकी**—वह है जिसमें *अन्वय* और *व्यतिरेक* दोनों के दृष्टान्त (अर्थात् *सपक्ष* और *विपक्ष* दोनों ही) मिल सकें। जैसे, *"पर्वतो वह्निमान्"* वाले अनुमान को ले लीजिये। यहाँ धूम और अग्नि में जो व्याप्ति सम्बन्ध है उसके दृष्टान्त अन्वय और व्यतिरेक दोनों में मिलते हैं। जैसे, सपक्ष का दृष्टान्त है महानस, विपक्ष का दृष्टान्त है जलाशय। ऐसे अनुमान को *अन्वय व्यतिरेकी* कहते हैं।

(२) **केवलान्वयी**—वह है जिसमें केवल *अन्वय* का दृष्टान्त मिल सके; *व्यतिरेक* का नहीं। जैसे, "पट का नामकरण संभव है क्योंकि इसका ज्ञान प्राप्य है।"

*"सिसाधयिषा विरहविशिष्ट सिद्ध्यभावः पक्षता तद्वान् पक्षः।" (सिद्धान्तमुक्तावली)

दूसरे शब्दों में घट *प्रमेय* (ज्ञातव्य) है, अतएव *अभिधेय* है। यहाँ यह व्याप्ति सम्बन्ध स्थापित किया गया है कि "जो-जो *प्रमेय* हैं सो-सो *अभिधेय* भी है।" (अर्थात् जो-जो चीजें जानी जा सकती हैं उनके नाम भी दिये जा सकते हैं)

इस व्याप्ति का केवल अन्वय में दृष्टान्त मिलता है। जैसे, घट में प्रमेयत्व (ज्ञेयता) है तो अभिधेयत्व (संज्ञा) भी है। इसी तरह सभी वस्तुएँ प्रमेय और अभिधेय दोनों ही हैं। अब व्यतिरेक के लिये यह दिखलाना आवश्यक होगा कि—"जो-जो अभिधेय नहीं है सो-सो प्रमेय नहीं है। किन्तु जो अभिधेय नहीं हो (अर्थात् जिसको नाम नहीं दिया जा सके) ऐसा कोई पदार्थ ही देखने में नहीं आता। अर्थात् *विपक्ष* कहीं मिलता ही नहीं ; जितनी वस्तुएँ मिलती हैं सब *सपक्ष* ही में आ जाती हैं) अतएव व्यतिरेक का दृष्टान्त कहाँ से दिया जायगा ? इसमें केवल अन्वय का ही दृष्टान्त दिया जाना संभव है। ऐसे अनुमान को *'केवलान्वयी'* अनुमान कहते हैं।

(३) **केवल व्यतिरेकी**—जहाँ केवल व्यतिरेक-मात्र में व्याप्ति का दृष्टान्त मिल सके (अन्वय में नहीं), वहाँ *केवलव्यतिरेकी* अनुमान समझना चाहिये। जैसे, "जीव में आत्मा है क्योंकि उसमें चैतन्य है।"

यहाँ चैतन्य और आत्मा में व्याप्ति सम्बन्ध स्थापित किया गया है। इसका अन्वय में यह रूप होगा—*जो-जो चैतन्यवान् है सो-सो आत्मावान् भी है।*

अब इसका दृष्टान्त क्या दीजियेगा ? जो कुछ चैतन्यवान् है (मनुष्य, घोड़ा, आदि) वह सब तो जीव के अन्तर्गत ही अर्थात् पक्षकोटि में आ जाता है। और पक्ष में तो साध्य (आत्मा) को सिद्ध ही करना है। फिर उसको दृष्टान्त कैसे मान सकते हैं ?

अन्वय-दृष्टान्त के लिये *सपक्ष* (जिसमें साध्य का निश्चय हो) देना जरूरी है। और सपक्ष का पक्ष से भिन्न होना आवश्यक है। किन्तु यहाँ तो जो कुछ है *पक्ष* ही है। (अर्थात् उसमें साध्य का अनिश्चय ही है।) फिर सपक्ष का दृष्टान्त मिलेगा कहाँ से ? अतः यहाँ अन्वय का दृष्टान्त नहीं दिया जा सकता।

हाँ, व्यतिरेक का दृष्टान्त हम दे सकते हैं। अर्थात् यह दिखला सकते हैं कि—"जो-जो आत्मावान् नहीं है सो-सो चैतन्यवान् भी नहीं है।" जैसे, पत्थर में आत्मा नहीं है तो चैतन्य भी नहीं है। इसी तरह सभी जड़ पदार्थ विपक्ष के दृष्टान्त हो सकते हैं।

ऐसे अनुमान को जिसमें केवल व्यतिरेक का दृष्टान्त मिल सके, *केवल व्यतिरेकी* अनुमान कहा जाता है।

व्याप्ति

[व्याप्ति का अर्थ—व्याप्य और व्यापक—उपाधि—नव्यन्याय में व्याप्ति का लक्षण—अनुयोगी और प्रतियोगी—व्याप्ति का सिद्धान्त लक्षण—व्याप्ति ग्रहोपाय—व्याप्ति विषयक समस्या—अवच्छेदक धर्म—हेतु और साध्य का समानाधिकरण]

व्याप्ति का अर्थ—व्याप्ति का अर्थ है *विशेष रूप से आप्ति वा सम्बन्ध*। यहाँ विशिष्ट सम्बन्ध है दो वस्तुओं का *नियत साहचर्य* (सर्वदा एक के साथ दूसरे का रहना)।

यत्र-यत्र धूमस्तत्राग्निःइति साहचर्यनियमो व्याप्तिः—तर्कसंग्रह

साहचर्य का अर्थ है *एक साथ रहना*। जैसे, मछली और जल का एक साथ रहना पाया जाता है। यहाँ दोनों में *साहचर्य सम्बन्ध* है। किन्तु यह सम्बन्ध *नियमित* नहीं है। अर्थात् कभी-कभी मछली जल से अलग (शुष्क स्थल में) भी पाई जा सकती है और जल भी मछली के विना पाया जा सकता है। यानी दोनों सहचर एक दूसरे से अलग भी रह सकते हैं। इसी का नाम है '*व्यभिचार*'।

व्यभिचार का व्युत्पत्यर्थ है *वि* (विशेष रूप से) + *अभि* (सर्वतो भावेन) + चार (*गति = स्थिति का अभाव*)। अर्थात् सर्वत्र एक ही विशेष रूप से व्यवस्थिति न होने को ही व्यभिचार कहते हैं।

एकत्राव्यवस्था व्यभिचारः

अतएव व्यभिचार का भावार्थ हुआ *नियमनिपात* वा *अपवाद*। पूर्वोक्त उदाहरण में, जल और मछली के साहचर्य में नियम भङ्ग भी पाया जाता है। (अर्थात् एक की स्थिति दूसरे के अभाव में भी पाई जाती है) अतएव यहाँ दोनों का सम्बन्ध *व्यभिचारयुक्त* (वा *व्यभिचरित*) कहा जायगा।

व्याप्ति का अर्थ है *अव्यभिचरित सम्बन्ध*। जिस साहचर्य नियम में व्यभिचार (अपवाद) नहीं हो, वही व्याप्ति कहलाता है। जैसे, धूम और अग्नि में नियत साहचर्य देखने में आता है। धूम कभी अग्नि से पृथक् नहीं रहता। वह सर्वदा अग्नि के साथ ही पाया जाता है। इस नियम का कभी अपवाद (व्यभिचार) नहीं होता। या यों कहिये कि धूम सर्वदा एकनिष्ठ होकर अग्नि के ही साथ सहवास करता है, दूसरे के साथ नहीं। अर्थात् वह '*ऐकान्तिक*' * (एक को लेकर) है, *अनैकान्तिक* (बहुतों का आश्रित) नहीं। एकपत्नीव्रत पुरुष की तरह वह सर्वदा केवल एक आग मात्र का ही साया पकड़कर

---

* एकस्य साध्यस्य तदभावस्य वा योऽन्तः सहचारः अव्यभिचरित सहचारः तस्यायमित्यैकान्तिकः।
—न्यायकोश

रहता है। अग्नि से अतिरिक्त स्थल में वह कभी नहीं पाया जाता। दूसरे शब्दों में यह कहिये कि वह कभी व्यभिचार (अन्यत्र गमन) नहीं करता। इसी अव्यभिचरित सम्बन्ध को '*व्याप्ति*' कहते हैं।

अतः तर्ककौमुदीकार कहते हैं—

व्यभिचारज्ञानविरहसहकृतं हेतुसाध्यसहचारदर्शनं व्याप्तिग्राहकं भवति

इसी बात को दूसरे ढंग से समझिये। धूम अग्नि के बिना नहीं रह सकता। इसीलिये धूम का अग्नि के साथ जो सम्बन्ध है, उसे '*अविनाभाव*' कहते हैं। अविनाभाव का शब्दार्थ है अ (नहीं)+*विना* (विरह या पार्थक्य में)+*भाव* (होना)। अर्थात् यदि एक वस्तु ऐसी है जो दूसरी वस्तु के बिना कभी रह ही नहीं सके, तो वहाँ अविनाभाव सम्बन्ध जानना चाहिये।* धूम कभी अग्नि के बिना हो ही नहीं सकता। जहाँ अग्नि नहीं है, वहाँ धूम भी नहीं रहेगा। धूम का अग्नि से पृथक्, अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। उसका अस्तित्व अग्नि पर निर्भर करता है। अथवा आलङ्कारिक भाषा में यों कहिये कि उसका जीवन अपनी सहचरी (आग) के हाथ में है, जिसके विरह में वह कभी रह सकता ही नहीं। इसी *अविनाभाव सम्बन्ध* को *व्याप्ति* कहते हैं।

अतएव **'व्याप्ति'** सम्बन्ध को हम (क) **नियत साहचर्य** (ख) **अव्यभिचरित सम्बन्ध** (ग) **ऐकान्तिक भाव** अथवा (घ) **अविनाभाव सम्बन्ध** भी कह सकते हैं।

व्याप्य और व्यापक—पूर्वोक्त उदाहरण में धूम और अग्नि का व्याप्ति-सम्बन्ध दिखलाया गया है। अब प्रश्न यह उठता है कि किस में किसकी व्याप्ति है। धूम की व्याप्ति अग्नि में है या अग्नि की व्याप्ति धूम में ?

अब यह बात प्रत्यक्ष देखने में आती है कि धूम कभी अग्नि के बिना नहीं पाया जाता। किन्तु आग धूम के बिना भी पाई जाती है। जैसे, जलते हुए लोहे में निर्धूम अग्नि देखने में आती है। इसलिये ऐकान्तिकता (एकनिष्ठता) धूम में है, अग्नि में नहीं। अर्थात् अग्नि धूम में सीमित नहीं है, किन्तु धूम अग्नि में सीमित है।

धूम
अग्नि

इस बात को यहाँ दिये हुए वृत्तों से समझिये।
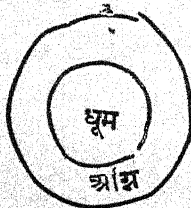
यहाँ सम्पूर्ण धूम अग्नि के अन्तर्गत है। किन्तु सम्पूर्ण अग्नि धूम के अन्तर्गत नहीं। अथवा यों कहिये कि धूम के यावतीय प्रदेश में अग्नि व्याप्त (फैला) है। किन्तु अग्नि के

* यदि अविनाभाव दोनों ओर से रहे तो उसे '*समव्याप्ति*' कहते हैं। जैसे, पृथ्वी और गन्ध में। यदि अविनाभाव एक ही पक्ष में रहे तो उसे '*विषमव्याप्ति*' कहते हैं। धूम अग्नि के बिना नहीं हो सकता, किन्तु अग्नि धूम के बिना भी हो सकती है। यह विषम व्याप्ति का उदाहरण हुआ।

यावतीय प्रदेश में धूम व्याप्त नहीं है। अर्थात् *धूम में अग्नि की व्याप्ति है, अग्नि में धूम की नहीं।* जिसकी व्याप्ति रहती है, वह **'व्यापक'** कहलाता है। जिसमें व्याप्ति रहती है, वह **'व्याप्य'** कहलाता है। उपर्युक्त उदाहरण में *अग्नि व्यापक और धूम व्याप्य है।* अग्नि धूम का व्यापक है; क्योंकि वह व्याप्ति क्रिया का *'कर्त्ता'* है। धूम अग्नि का व्याप्य है; क्योंकि वह व्याप्ति क्रिया का *कर्म* है।

व्याप्य कभी व्यापक के बाहर नहीं रह सकता। किन्तु व्यापक व्याप्य के बाहर भी रह सकता है। (जैसे उपर्युक्त चित्र में दिखलाया गया है।)

अब प्रश्न यह उठता है कि व्याप्य और व्यापक इन दोनों में कौन किसका सूचक है। अर्थात् धूम से अग्नि का बोध हो सकता है या अग्नि से धूम का। धूम के सर्व देश में अग्नि व्यापक है। अर्थात् ऐसा कोई धूम नहीं हो सकता जिसमें अग्नि न हो। इसलिये हम कह सकते हैं कि "जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ आग होगी।" अतएव धूम को सर्वत्र अग्नि का सूचक (चिह्न) समझना चाहिये। किन्तु क्या आग भी सर्वत्र धूम की सूचक समझी जा सकती है? क्या हम पूर्वोक्त वाक्य को उलटकर कह सकते हैं—"जहाँ-जहाँ आग है वहाँ-वहाँ धूम होगा?" नहीं। क्योंकि धूम सर्वत्र अग्नि में व्यापक नहीं है। अर्थात् ऐसी भी आग हो सकती है जिसमें धूम नहीं हो (जैसे जलते हुए लोहे में)। अतएव हम *धूम से सब जगह अग्नि का अनुमान कर सकते हैं;* किन्तु *अग्नि से सब जगह धूम का अनुमान नहीं कर सकते।*

दूसरे शब्दों में यों कहिये कि धूम अग्नि का पक्का चिह्न है, किन्तु अग्नि धूम का पक्का चिह्न नहीं। नैयायिक लोग चिह्न को **'लिङ्ग'** कहते हैं, और चिह्न से जिस वस्तु का संकेत (निर्देश) होता है उसको **'लिङ्गी'** कहते हैं। उक्त उदाहरण में धूम 'लिङ्ग' है और अग्नि 'लिङ्गी'। *लिङ्ग के द्वारा लिङ्गी का अनुमान होता है।* इसलिये लिङ्गी को **'साध्य'** और लिङ्ग को **'साधन'** (अनुमान का हेतु) कहते हैं। पूर्वोक्त उदाहरण में 'धूम' लिङ्ग होने के कारण *'साधन'* कहा जायगा और—'अग्नि' लिङ्गी होने के कारण *'साध्य'* कहा जायगा। अतएव जहाँ व्याप्ति सम्बन्ध है, वहाँ व्यापक को साध्य और व्याप्य को साधन जानना चाहिये। अतएव यह सिद्ध हुआ कि *व्याप्य (लिङ्ग) से व्यापक (लिङ्गी) का बोध हो सकता है। किन्तु व्यापक (लिङ्गी) से व्याप्य (लिङ्ग) का नहीं।* क्योंकि व्यापक (अग्नि) व्याप्य (धूम) के अतिरिक्त और-और स्थलों में भी (जैसे तप्त लोह खण्ड में) रह सकता है।

उपाधि—वाचस्पति मिश्र प्रभृति कुछ प्राचीन नैयायिकों ने व्याप्ति का बहुत ही किन्तु सारगर्भित लक्षण दिया है।

"अनौपाधिको सम्बन्धः (व्याप्तिः)"

अर्थात् जिस सम्बन्ध में 'उपाधि' नहीं हो उसे ही व्याप्ति जानना चाहिये।

यहाँ 'उपाधि' का अर्थ समझना आवश्यक है।

"उप समीपवर्तिनि आदधाति स्वकीयं रूपम् इति उपाधिः।"

अर्थात् जो समीपवर्ती पदार्थ में अपना रूप, दिखलावे वह उपाधि है। जैसे जपापुष्प (ओड़हुल का फूल) के निकटवर्ती स्वच्छ स्फटिक में भी लाली की झलक दिखलाई पड़ने लगती है। यह लाली स्फटिक की स्वाभाविक लाली नहीं, किन्तु औपाधिक लाली है। क्योंकि वह उपाधि (ओड़हुल) के संसर्ग से प्राप्त हुई है। उपाधि हट जाने पर औपाधिक गुण (लाली) भी हट जायगा।

धूम के साथ आग सब जगह पाई जाती है। किन्तु अग्नि के साथ सब जगह धूम नहीं पाया जाता।* क्योंकि अग्नि के साथ धूम का पाया जाना एक दूसरी बात पर निर्भर करता है। वह है आर्द्रेन्धन (भींगी लकड़ी) का संयोग। इसी को उपाधि कहते हैं। अग्नि के साथ धूम का जो सम्बन्ध है, वह इस (उपाधि) की अपेक्षा रखता है। अर्थात् वह सम्बन्ध सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। इसीसे उपाधि (आर्द्रेन्धन संयोग) के अभाव में धूम का भी अभाव देखने में आता है। और इस उपाधि का अग्नि के साथ कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। यानी अग्नि के साथ उसका रहना कोई जरूरी नहीं है। इसलिये जब अग्नि के साथ भींगी लकड़ी का संयोग होता है तब धूम की उपलब्धि होती है। जब अग्नि के साथ भींगी लकड़ी का संयोग नहीं होता तब धूम की उपलब्धि नहीं होती।

मान लीजिये हम सिद्ध करना चाहते हैं कि—

"जलते हुए लोहे में धूम होगा, क्योंकि वहाँ अग्नि है।"

यहाँ अग्नि हेतु देकर हम धूम (साध्य) की सिद्धि करना चाहते हैं। किन्तु यहाँ हेतु (अग्नि) में साध्य (धूम) व्यापक नहीं है। क्योंकि उसमें उपाधि लगी हुई है। यह उपाधि धूम (साध्य) के साथ सर्वदा पाई जाती है, किन्तु अग्नि (साधन) के साथ सर्वदा नहीं पाई जाती। इसीलिये उपाधि का लक्षण कहा गया है—

"साध्य व्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम् उपाधिः।"

(अर्थात् साध्य में व्यापक होते हुए भी जो साधन में व्यापक नहीं है उसीको उपाधि कहते हैं।)

यदि धूम का अग्नि के साथ निरुपाधिक अर्थात् निरपेक्ष सम्बन्ध रहता तो वह सर्वत्र

अग्नि के साथ पाया जाता। किन्तु उपाधिग्रस्त (भींगी लकड़ी के अधीन) होने के कारण धूम सबकहीं अग्नि के साथ नहीं रहता। अतएव धूम अग्नि में व्यापक नहीं है।

किन्तु अग्नि का धूम के साथ जो सम्बन्ध है वह उपाधिग्रस्त नहीं है। अर्थात् अग्नि धूम के साथ रहने के लिये किसी और बात की अपेक्षा नहीं रखता। वह इस सम्बन्ध में स्वाधीन है, पराधीन नहीं। इसलिये वह धूम में व्यापक है। अर्थात् जहाँ-जहाँ धूम रहता है वहाँ सब जगह आग रहती है। इसी अनुपाधिक (उपाधि रहित) सम्बन्ध को 'व्याप्ति' कहते हैं।

नव्यन्याय में व्याप्ति का लक्षण—नव्यन्याय के प्रवर्त्तक *गङ्गेश उपाध्याय* ने अपने *तत्त्वचिन्तामणि* में व्याप्ति की बहुत ही सूक्ष्म विवेचना की है। उन्होंने कई प्रकार से व्याप्ति का लक्षण करते हुए प्रत्येक का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण किया है। उन्हीं के आधार पर नवीन नैयायिक गण अपनी कुशाग्र बुद्धि से बाल की खाल निकाला करते हैं।

यहाँ नव्यन्याय के अनुसार व्याप्ति की मुख्य-मुख्य परिभाषाएँ देकर उनका विवेचन किया जाता है।

(१) तत्त्वचिन्तामणि में व्याप्ति की प्रथम परिभाषा यह दी गई है—

"साध्याभाववदवृत्तित्वम्"

इसका सीधा-सादा अर्थ यही है कि "साध्य (जैसे अग्नि) का अभाव जहाँ-जहाँ है, तहाँ-तहाँ यदि हेतु (धूम) का भी अभाव रहे, तो वहाँ व्याप्ति सम्बन्ध समझना चाहिये। जैसे, झील में अग्नि का अभाव है तो वहाँ धूम का भी अभाव है। वृक्ष में अग्नि नहीं है तो वहाँ धूम भी नहीं है। इसी तरह जहाँ-जहाँ अग्नि का अभाव है, वहाँ-वहाँ धूम का भी अभाव है। अतएव यहाँ अग्नि का धूम के साथ व्याप्ति सम्बन्ध है। अर्थात् अग्नि धूम का व्यापक है (और धूम अग्नि का व्याप्य है)।

यह तो मोटा अर्थ हुआ। अब महीन अर्थ समझने की चेष्टा कीजिये। किन्तु उसे समझने के लिये पहले अनुयोगिता-प्रतियोगिता भाव का समझ लेना आवश्यक है।

अनुयोगी और प्रतियोगी—प्रत्येक सम्बन्ध के लिये दो पक्षों का होना आवश्यक है—

(१) सम्बन्ध का '*विषय*' (=जिसको लेकर सम्बन्ध है)

(२) सम्बन्ध का '*आधार*' (=जिसका उक्त विषय से सम्बन्ध है)

मान लीजिये 'क' के साथ 'ख' का सम्बन्ध है। यहाँ सम्बन्ध किसमें स्थापित

किया गया है ? 'क' में । इसको **'अनुयोगी'** कहते हैं । और—सम्बन्ध किसको लेकर स्थापित किया गया है । 'ख' को लेकर । इसको **'प्रतियोगी'** कहते हैं ।

एक दूसरा उदाहरण लीजिये । "*पात्रे घृतम् ।*"

अर्थात् बर्तन में घी है । यहाँ बर्तन 'आधार' और घी 'आधेय' है । अर्थात् दोनों में आधाराधेय सम्बन्ध है । इस सम्बन्ध का अनुयोगी कौन है ? घी तो नहीं हो सकता । क्योंकि घी में बर्तन नहीं है, बर्तन में घी है । इसलिये यहाँ बर्तन को '*अनुयोगी*' और घी को '*प्रतियोगी*' समझना चाहिये ।

जिस तरह 'सम्बन्ध' में अनुयोगी-प्रतियोगी होते हैं, उसी तरह 'अभाव' में भी अनुयोगी-प्रतियोगी होते हैं । जिस विषय का अभाव होता है वह अभाव का प्रतियोगी कहलाता है । जिस स्थान में अभाव रहता है, वह अभाव का अनुयोगी कहलाता है । जैसे, "जल में गन्ध का अभाव है ।" यहाँ इस अभाव का अनुयोगी है जल, और प्रतियोगी है गन्ध । दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि इस अभाव की अनुयोगिता जलनिष्ठ (जल में) है, और प्रतियोगिता गन्धनिष्ठ (गन्ध में) है ।

यहाँ प्रतियोगिता और अनुयोगिता गन्ध के अभाव पर अवलम्बित हैं । अर्थात् जलनिष्ठ अनुयोगिता और गन्धनिष्ठ प्रतियोगिता का निरूपक अभाव ही है । इसी तरह 'साध्य' के अभाव को ले लीजिये । इस अभाव के द्वारा निरूपित प्रतियोगिता साध्यनिष्ठ है । अतएव नैयायिकों की भाषा में इस अभाव को साध्यनिष्ठ प्रतियोगिता निरूपक अभाव कहेंगे ।

यह तो हुआ '*साध्याभाव*' । अब '*वृत्ति*' शब्द को लीजिये । वृत्ति का अर्थ है स्थिति अर्थात् किसीमें वर्त्तमान रहना । जिसमें आधेय पदार्थ वर्त्तमान रहता है, उसको '*आधार*' वा '*अधिकरण*' कहते हैं । जैसे, 'घट में जल है ।' यहाँ घट आधार है । जल आधेय और उसकी वृत्ति (स्थिति) घटनिष्ठ है (अर्थात् घट में है) इसी तरह, "घट में जल नहीं है ।" यहाँ घट आधार है । जल का अभाव आधेय है । और उस अभाव की वृत्ति घटनिष्ठ है (अर्थात् घट में है) ।

जिस तरह अनुयोगिता-प्रतियोगिता सम्बन्ध वा अभाव के द्वारा निरूपित होती है, उसी तरह वृत्तित्व आधार के द्वारा निरूपित होता है । घट निरूपित वृत्तित्व कहने से घट रूपी अधिकरण में जो आधेय है (जैसे जल) उसकी स्थिति का बोध होगा ।

अब पूर्वोक्त सूत्र पर फिर से ध्यान दीजिये—

"*साध्याभाववदवृत्तित्वम् ।*"

अर्थात् साध्य के अभाव का जो अधिकरण (आधार) है, उसमें हेतु की वृत्ति (स्थिति) का न होना ही व्याप्ति है । जैसे, धूम और अग्निवाला उदाहरण ले लीजिये ।

यहाँ साध्य है अग्नि। अतएव उसके अभाव को कहेंगे अग्निनिष्ठ प्रतियोगिता निरूपक अभाव (वह अभाव जिसकी प्रतियोगिता अग्नि में है।) अग्नि के अभाव का अधिकरण है वह स्थान जिसमें अग्नि नहीं हो, जैसे तालाब। इस अधिकरण के द्वारा निरूपित वृत्तित्व उन पदार्थों में है जो तालाब के आधेय हैं, जैसे जल। धूम में ऐसा वृत्तित्व नहीं है। अतएव उसमें अग्नि की व्याप्ति है।

इसी निष्कर्ष पर पहुँचने के लिये इतना द्राविड़ी प्राणायाम किया गया है। नैयायिक-गण इसी बात को अपनी जटिल भाषा में कहेंगे—"साध्यनिष्ठ प्रतियोगिता निरूपक अभाव के अधिकरण में हेतु के वृत्तित्व का न होना ही व्याप्ति का लक्षण है।"

व्याप्ति का सिद्धान्त-लक्षण—तत्त्वचिन्तामणिकार ने सिद्धान्त रूप से व्याप्ति का यह लक्षण किया है—

"हेतुव्यापकसाध्यसमानाधिकरण्यं व्याप्तिः।"

अर्थात् हेतु और उसके व्यापक साध्य का जो *'समानाधिकरण्य'* (एक ही आधार में स्थिति) हो उसे 'व्याप्ति' कहते हैं। यहाँ व्यापक साध्य का अर्थ है हेतु के समानाधिकरण अभाव का प्रतियोगी नहीं होनेवाला। अर्थात् हेतु के साथ जिसका कभी अभाव नहीं पाया जाय, ऐसा साध्य हेतु का व्यापक कहलाता है। ऐसे व्यापक साध्य की व्याप्य हेतु में जो सहवर्त्तिता है, उसी को 'व्याप्ति' कहते हैं।

व्याप्तिग्रहोपाय—व्याप्ति के सम्बन्ध में एक और विचारणीय प्रश्न है। वह है 'व्याप्ति का ज्ञान'। हमें व्याप्ति-सम्बन्ध का ज्ञान क्योंकर होता है? इसके उत्तर में नैयायिक गण कहते हैं—*'भूयो दर्शनात्।'* अर्थात् बारंबार दो वस्तुओं का साहचर्य देखने से व्याप्ति का बोध होता है। जैसे हजारों बार रसोईघर में अग्नि और धूम का सम्बन्ध देखने में आता है।

किन्तु केवल इतना ही कहना पर्याप्त नहीं है। *भूयोदर्शन* (Repeated observation) से लाखों जगह हमें भले ही अग्नि धूम का सम्बन्ध देखने में आये; किन्तु यदि कहीं, एक जगह भी, धूम के साथ अग्नि का सम्बन्ध नहीं पाया जाय, तो 'व्याप्ति' कट जाती है। इसलिये केवल बहुत-से स्थलों में सहचार होने से ही व्याप्ति की सिद्धि नहीं होती। सहचार के साथ-साथ व्यभिचार का अभाव होना भी आवश्यक है।

अतएव व्याप्तिज्ञान के लिये दो बातों का ज्ञान होना जरूरी है—

(१) सहचार का ज्ञान (Agreement in presence)

(२) व्यभिचार ज्ञान का अभाव (Agreement in absence)

इसलिये व्याप्तिज्ञान का कारण कहा गया है—

"व्यभिचारज्ञानविरहसहकृतं सहचारज्ञानम्।"

धूम के साथ अग्नि का सहचार सब जगह मिलता है। जैसे रसोईघर में, यज्ञशाला में इत्यादि (Positive Instance)। धूम के साथ अग्नि का व्यभिचार एक जगह भी देखने में नहीं आता। जैसे, पोखरे में धूम नहीं है तो वहाँ अग्नि भी नहीं है। (Negative Instance) इसी अव्यभिचरित सहचार सम्बन्ध के ज्ञान से व्याप्ति का बोध होता है।

यहाँ एक मनोरंजक शंका उत्पन्न होती है। व्याप्ति के बल पर ही प्रत्येक अनुमान किया जाता है। अर्थात् अनुमान का आधार है व्याप्ति सम्बन्ध। और व्याप्ति कैसे सिद्ध होती है? अव्यभिचरित सहचार के ज्ञान से व्याप्ति का अनुमान किया जाता है। अतः व्याप्ति का आधार है अनुमान। यहाँ अनुमान के द्वारा तो हम व्याप्ति को सिद्ध करते हैं और फिर इसी व्याप्ति के द्वारा अनुमान को सिद्ध करते हैं। यह 'अन्योन्याश्रय दोष' (Arguing in a circle) है।

इस अन्योन्याश्रय दोष से कैसे उद्धार हो सकता है? इसके लिये कुछ नैयायिक एक युक्ति का आश्रय लेते हैं। उनका कहना है कि जिस तरह एक गाय को देखने से उसकी नित्य सामान्य जाति (गोत्व) भी प्रत्यक्ष होती है, उसी तरह स्थान विशेष में धूमाग्नि का साहचर्य देखने से उस साहचर्य का नित्यत्व प्रत्यक्ष होता है। जिस प्रकार '*सामान्य लक्षण प्रत्यासत्ति*' के द्वारा जाति की उपलब्धि होती है, उसी प्रकार '*अलौकिक सन्निकर्ष*' Supernormal perception) के द्वारा व्याप्ति की भी उपलब्धि होती है। अतएव व्याप्तिज्ञान प्रत्यक्ष सिद्ध है, अनुमान सिद्ध नहीं। और इसलिये उसे अनुमान का आधार मानने में अन्योन्याश्रय दोष नहीं लगता।

व्याप्तिविषयक समस्या—व्याप्ति के विषय में कुछ शंकाएँ उठाई जा सकती हैं। 'पर्वत पर अग्नि है।' यहाँ अग्नि और पर्वत में संयोग सम्बन्ध है, समवाय नहीं। अर्थात् संयोग सम्बन्ध से तो अग्नि की स्थिति पर्वत पर है किन्तु समवाय सम्बन्ध से उसकी स्थिति नहीं है। और जब (समवाय सम्बन्ध से) अग्नि की स्थिति पर्वत में नहीं है तब वहाँ उसका अभाव मानना पड़ेगा। अर्थात् यह कहना पड़ेगा कि वहाँ साध्य का अभाव है। और उस साध्य के अभाव में भी हेतु (धूम) देखने में आता है। तब हेतु के साथ साध्य का समानाधिकरण्य कहाँ रहा? अर्थात् धूम में अग्नि की व्याप्ति कहाँ रही!

इसी तरह कहा जा सकता है कि पर्वत पर महानसीय (रसोई घर का) अग्नि तो नहीं है। अर्थात् उसमें अग्निविशेष का अभाव है। और इस तरह साध्य (अग्नि) का अभाव रहते हुए भी हेतु (धूम) पाया जाता है। अतएव दोनों में व्याप्ति सम्बन्ध नहीं माना जा सकता।

अवच्छेदक धर्म—उपर्युक्त शंकाओं का समाधान करने के लिये हमें साध्य का धर्म और सम्बन्ध पहचानना चाहिये। जब हम कहते हैं कि 'पर्वत पर अग्नि है' तो हमारा अर्थ किस अग्नि से रहता है? चूल्हे की आग से या सामान्य अग्नि से? हम पर्वत में केवल सामान्य अग्नि सिद्ध करना चाहते हैं, कोई विशिष्ट अग्नि नहीं। अर्थात् यहाँ विशुद्ध अग्नित्व धर्म को लेकर ही हम साध्य की सिद्धि करना चाहते हैं। अतएव यहाँ जो अग्नित्व धर्म है वही साध्यता का सूचक या परिचायक है। इसलिये इसको '*साध्यतावच्छेदक*' (साध्यता का अवच्छेदक वा बोधक) धर्म कहते हैं। पर्वत पर जो अग्नि है वह इसी (साध्यतावच्छेदक) धर्म से अवच्छिन्न (व्यक्त) है।

अतः यहाँ साध्यतावच्छेदक धर्मावच्छिन्न का अर्थ हुआ विशुद्ध अग्नित्व धर्मवाला अग्नि। न कि महानसीय अग्नित्व धर्मवाला अग्नि। ऐसे अग्नि का पर्वत में अथवा धूम के और किसी आधार में अभाव नहीं रह सकता। इसलिये व्याप्ति सम्बन्ध के विषय में जो शंका की गई है वह निर्मूल है।

इसी तरह समवायवाली शंका को ले लीजिये। पर्वत पर अग्नि का संयोग सम्बन्ध सिद्ध करना अभीष्ट है न कि समवाय। पर्वत में अग्नि का समवाय होना ही असंभव है। क्योंकि समवाय के लिये अङ्गाङ्गी भाव होना आवश्यक है। पर्वत और अग्नि में अङ्गाङ्गी सम्बन्ध नहीं होता। केवल संयोग मात्र होता है। अतएव पर्वतस्थ अग्नि की साध्यता संयोग सम्बन्ध को लेकर है। अर्थात् यहाँ साध्यता का अवच्छेदक (बोधक) सम्बन्ध है संयोग।

अतएव यहाँ साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न का अर्थ हुआ संयोग सम्बन्धवाला अग्नि। ऐसे अग्नि का पर्वत अथवा धूम के और किसी आधार में अभाव नहीं रह सकता। इसलिये साध्य हेतु के समानाधिकरण्य में कोई बाधा नहीं पहुँचती।

इसी तरह पर्वत में जो धूम है उसका धर्म है '*साधारण धूमत्व*' (न कि धूम का एक खास रंग या आकार)। यह हेतुत्वावच्छेदक धर्म हुआ। पर्वत के साथ धूम का सम्बन्ध है '*संयोग*' (न कि समवाय)। यह हेतुत्वावच्छेदक सम्बन्ध हुआ।

जहाँ 'साध्य' शब्द का प्रयोग हो, वहाँ साध्यतावच्छेदक धर्मावच्छिन्न साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न (अर्थात् निर्दिष्ट धर्म और सम्बन्धवाला) साध्य समझना चाहिये। इसी प्रकार हेतु से हेतुत्वावच्छेदक धर्मावच्छिन्न हेतुत्वावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न का अर्थ ग्रहण करना चाहिये।

हेतु और साध्य का समानाधिकरण्य—अतएव हेतु और साध्य के समानाधिकरण्य का अर्थ हुआ 'निर्दिष्ट धर्म और सम्बन्ध के साथ दोनों का एक जगह

रहना।' जैसे, अग्नि और धूम अपने सामान्य धर्म और संयोग सम्बन्ध से सहवर्त्ती रहते हैं।

साध्य के व्यापक होने का अर्थ है—जहाँ-जहाँ हेतु है तहाँ-तहाँ उसका पाया जाना। अर्थात् जहाँ हेतु है तहाँ उसका अभाव नहीं पाया जाता। यानी हेतु के अधिकरण में साध्य का अभाव नहीं होना। या हेतु और साध्याभाव का समानाधिकरण्य नहीं होना।

नव्यन्याय की लच्छेदार भाषा की चाशनी चखनी हो तो इसी बात को इस प्रकार सुनिये—

"साध्यतावच्छेदक धर्मावच्छिन्न साध्यतावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न निष्ठप्रतियोगिता निरूपक अभाव का हेतुत्वावच्छेदक धर्मावच्छिन्न हेतुत्वावच्छेदक सम्बन्धावच्छिन्न के साथ समानाधिकरण्य नहीं होना ही 'व्याप्ति' है।"

उपमान

[उपमान और उपमिति—उपमान का लक्षण—उपमिति का स्वरूप—उपमान के सम्बन्ध में मतभेद—उपमान का महत्त्व]

उपमान और उपमिति—उपमान का अर्थ है "उपमीयते अनेन इति उपमानम्। उपमा वा सादृश्य के आधार पर जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उसे **उपमिति** कहते हैं। मान लीजिये, कोई नागरिक है जिसने गवय (नील गाय) नामक जन्तु को नहीं देखा है। उसे जंगल के निकटवर्त्ती किसी ग्रामीण के द्वारा यह मालूम होता है कि गाय के समान ही गवय का भी आकार-प्रकार होता है। अब वह जंगल में जाता है। वहाँ गोसदृश जन्तु उसे दिखलाई पड़ता है, जिसे उसने पहले कभी देखा नहीं है। किन्तु गवय का जो वर्णन उसने सुन रखा है, सो उस जन्तु विशेष पर घटित हो जाने के कारण वह समझ लेता है कि यही गवय है। अब इस ज्ञान के स्वरूप पर विचार कीजिये। 'यह गवय है' ऐसा ज्ञान उस नागरिक को कैसे उत्पन्न होता है ? यदि उसे यह मालूम नहीं रहता कि 'गोसदृश गवय होता है' तो उस जन्तु को देखने पर भी उपर्युक्त ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। इसलिये *'सादृश्य ज्ञान'* पर ही उपमिति का अस्तित्व निर्भर करता है। यही सादृश्यज्ञान उपमिति का कारण वा **उपमान** कहलाता है।*

उपमान का लक्षण—महर्षि गौतम कहते हैं—

प्रसिद्ध साधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्।

—न्या० सू० १।१।६

प्रसिद्ध वस्तु (यथा गौ) के साधर्म्य से अप्रसिद्ध वस्तु (यथा गवय) का ज्ञान प्राप्त करना ही *'उपमिति'* है। उपमिति का साधन ही *उपमान प्रमाण* कहलाता है ! †

हरिभद्र सूरि भी इन्हीं शब्दों में उपमान की परिभाषा देते हैं—

प्रसिद्धवस्तुसाधर्म्यात् अप्रसिद्धस्य साधनम्।
उपमानं समाख्यातं यथा गौर्गवयस्तथा।

—षड्दर्शन समुच्चय

---

* उपमितिकरणम् (उपमानम्)। तच्च सादृश्यज्ञानम्।

† सूत्रार्थश्च प्रसिद्धस्य पूर्वप्रमितस्य गवादेः साधर्म्यात् सादृश्यात् तज्ज्ञानात् साध्यस्य गवयादिपदवाच्यत्वस्य साधनं सिद्धिरुपमानमुपमितिः। अत इत्यध्याहारेण च करणलक्षणम्।

ज्ञात पदार्थ के सादृश्य से अज्ञात पदार्थ का ज्ञान कराना ही उपमान का काम है। इसलिये कहा गया है--

"प्रज्ञातेन सामान्यात् प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानम्।"

भाष्यकार कहते हैं--

उपमानं सारूप्य ज्ञानम्

अर्थात् सारूप्य का ज्ञान ही उपमान प्रमाण है। यह सारूप्य है क्या ? केवल किसी अंश में समानता होने से ही सारूप्य नहीं हो सकता। जैसे, काला रंग होने के कारण ही कौआ और हाथी ये दोनों सरूप नहीं कहे जायँगे।* सारूप्य के लिये जाति या सामान्य की समानता होना आवश्यक है। इसीलिये भाष्यकार फिर कहते हैं--

सारूप्यं तु सामान्ययोगः

कौए और कोयल में समानजातीयता है, इसलिये दोनों में सारूप्य सम्बन्ध कहा जा सकता है। कौए और हाथी में समानजातीयता नहीं है, इसलिये दोनों में सारूप्य सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता।

उपमिति का स्वरूप—उपमान करण है और उपमिति फल है। नैयायिकों का कहना है कि वन में गोसदृश पिंड को देखकर उसमें गवय पद वाच्यत्व की जो प्रतीति होती है, वही उपमिति रूपी फल है। इस संज्ञा संज्ञि-सम्बन्ध के ज्ञान का कारण है 'अति देश वाक्यार्थ' का स्मरण। अतिदेश का अर्थ है,

एकत्र श्रुतस्यान्यत्र सम्बन्धः

'गवय' 'वाचक' वा संज्ञा है। उसका वाच्य (संज्ञी) पहले देखा नहीं गया है। हाँ, वह वाच्य पदार्थ गोसदृश होता है, इतना पहले से विदित है। अब वन में उस गोसदृश पिंड को देखने पर गवय शब्द के शक्तिग्रह का स्मरण हो जाता है और उस दृश्यमान पिंड में 'गवय' संज्ञा का सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। यही वाच्य-वाचक सम्बन्ध की उपपत्ति उपमिति रूपी फल है।

उपमान के सम्बन्ध में मतभेद—उपमान के सम्बन्ध में दार्शनिकों का घोर विवाद है। **दिङ्नागाचार्य** उपमान को प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं मानते हैं। **वैशेषिकगण**

---

* सामान्य का अर्थ है 'अनुगत धर्म'। भाष्यकार कहते हैं, "या समानां बुद्धिं प्रसूते भिन्नेष्वधिकरणेषु यया बहूनीतरेतरतो न व्यावर्त्तन्ते योऽर्थोनेकत्र प्रत्ययानुवृत्ति निमित्तं तत्सामान्यम्।

—न्या० भा० २।२।६८

उपमान को अनुमान के अन्तर्गत ही समाविष्ट कर लेते हैं। **भासर्वज्ञ** इसे शब्द से अभिन्न समझते हैं। **सांख्य** मतानुसार उपमान *शब्दपूर्वक प्रत्यक्ष* के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

नैयायिकों को इन सभी आक्षेपों का उत्तर देना पड़ता है। **सिद्धान्तमुक्तावली** में उपर्युक्त मतों का खण्डन कर यह दिखाया गया है कि उपमान का अन्तर्भाव प्रत्यक्ष, अनुमान वा शब्द में नहीं हो सकता है। वस्तुतः उपमान में *प्रत्यक्ष*, *अनुमान* और *शब्द* इन तीनों के अंश रहते हैं। पहले *शब्द* द्वारा गोगवय-सादृश्य का ज्ञान होता है। फिर *प्रत्यक्ष* द्वारा गोसदृश पिंड का साक्षात्कार होता है। तदनन्तर *अनुमान* द्वारा उसका गवय होना सूचित होता है।

नोट—उपमान प्रत्यक्ष नहीं कहा जा सकता। क्योंकि प्रत्यक्ष द्वारा केवल गोसदृश पिंड की प्रतीति होती है, गवय की नहीं। यहाँ अनुमान प्रमाण भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि अनुमान प्रत्यक्षमूलक होता है और यहाँ गवय का पहले कभी प्रत्यक्षानुभव नहीं हुआ है। यहाँ लिंग (गोसादृश्य) और साध्य (गवय) का व्याप्तिसम्बन्ध अदृष्ट होने के कारण अनुमान की सिद्धि नहीं हो सकती। शब्द भी उपमिति का कारण नहीं हो सकता। क्योंकि शब्द से 'गोगवय-सादृश्य' का ज्ञान होता है, पिंडविशेष में गवयपद वाच्यत्व का नहीं। इस कारण उपमान उपर्युक्त तीनों प्रमाणों से भिन्न एक स्वतन्त्र प्रमाण माना जाता है।

उपमान का महत्त्व—भाष्यकार **वात्स्यायन** उपमान प्रमाण की उपयोगिता का जोरों में समर्थन करते हैं। उनका कहना है कि बहुत-से ऐसे अदृष्ट पदार्थ हैं जिनका उपमान प्रमाण द्वारा आविष्कार किया जा सकता है। आयुर्वेद प्रभृति विज्ञानों में प्रसिद्ध साधर्म्य के आधार पर ही अनेक अपरिचित औषधादि द्रव्यों का वर्णन मिलता है। जैसे मूँग के सदृश मुद्गपर्णी होती है।* इन वचनों से नाना अज्ञात पदार्थों का उद्धार हो सकता है जो अत्यन्त ही उपयोगी और लोकोपकारी सिद्ध हो सकते हैं। इस प्रकार उपमान प्रमाण का अपना पृथक् महत्त्व है।

---

* यथा मुद्गस्तथा मुद्गपर्णी यथा माषस्तथा माषपर्णी इत्युपमाने प्रयुक्त उपमानात् संज्ञा-संज्ञि सम्बन्धं प्रतिपद्यमानस्तामोषधीं भैषज्यायाहरति।

—न्या॰ भा॰ १।१।३

शब्द

[ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक शब्द—शब्द का संकेत—आजानिक और आधुनिक संकेत—पद—व्यक्ति—जाति—आकृति—पद की शक्ति—अवयवार्थ और समुदायार्थ—पद के भेद—रूढ़, यौगिक और योगरूढ़—स्फोटवाद—वाक्य—आकांक्षा—आसत्ति—योग्यता—तात्पर्य—अभिधा और लक्षणा—जहल्लक्षणा—अजहल्लक्षणा—शब्दप्रमाण—दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ शब्द—वैदिक वाक्य—वेद की प्रामाणिकता—शब्दानित्यत्ववाद—शब्द और अर्थ का सम्बन्ध]

ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक शब्द—

श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः

श्रोत्रेन्द्रिय का जो विषय होता है, वह 'शब्द' कहलाता है।

शब्द दो प्रकार के होते हैं—*

(१) *ध्वन्यात्मक* (Inarticulate)—जिसमें केवल ध्वनिमात्र सुन पड़ती है, अक्षर स्फुटित नहीं होता। जैसे ढोल की आवाज।

वर्णात्मक (Articulate)—जिसमें कण्ठ तालु, आदि के संयोग से स्वर व्यञ्जनों का उच्चारण स्फुटित हो जाता है। जैसे, मनुष्य की आवाज।

वर्णात्मक शब्द भी दो प्रकार के होते हैं—

(१) *सार्थक*—जिससे कुछ अर्थ-विशेष का बोध हो। जैसे, घट, पट, गो इत्यादि।

(२) *निरर्थक*—जिससे कुछ अर्थ नहीं निकले। जैसे शिशु का उच्चारण, उम् बुम इत्यादि।

शब्द का संकेत—सार्थक शब्द संज्ञा, क्रिया आदि के भेद से कई प्रकार के होते हैं। इन शब्दों में एक विशेष अर्थ प्रकाश करने की शक्ति रहती है। जैसे '*अश्व*' कहने से एक जन्तुविशेष का बोध होता है। '*गमन*' कहने से एक क्रिया विशेष का बोध होता है। इस अर्थद्योतन शक्ति को '*संकेत*' कहते हैं।

शब्द में शक्ति कहाँ से आती है? इस प्रश्न पर **न्याय** और **मीमांसा** में मतभेद है। मीमांसकों के मतानुसार शब्द की शक्ति नैसर्गिक (natural) और नित्य है। नैयायिक यह नहीं मानते। उनका कहना है कि शब्द और अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है, कृत्रिम

---

* शब्दो द्विविधः ध्वन्यात्मकः वर्णात्मकश्च। तत्राद्यो भेरीमृदङ्गादौ प्रसिद्धः। द्वितीयः संस्कृतभाषादिरूपः शब्दः।

सम्बन्ध (conventional) है। अर्थात् शब्द इच्छानिर्मित संकेत मात्र है। चाहे वह संकेत ईश्वरकर्तृक हो या मनुष्य कर्तृक।

नोट—शब्द के द्वारा जो पदार्थ इङ्गित वा सूचित होता है, वह *'वाक्य'* कहलाता है। शब्द उस वस्तु का सूचक चिह्न वा संकेत (symbol) मात्र है। इसलिये वह *'वाचक'* कहलाता है।

आजानिक और आधुनिक संकेत—संकेत दो प्रकार का माना गया है—

(१) *आजानिक*—अर्थात् जो संकेत अज्ञात काल से चला आता है। 'घट' शब्द से जो पात्रविशेष का बोध होता है, वह हमारा आपका दिया हुआ नहीं है। यह अर्थ घट शब्द में किसने दिया यह नहीं मालूम। हम इतना ही जानते हैं कि 'घट' शब्द में इस अर्थविशेष को व्यंजित करने का सामर्थ है। अर्थात् 'घट' शब्द में एक प्रसिद्ध शक्ति है। इस शक्ति को *आजानिक* कहते हैं।

(२) *आधुनिक*—अर्थात् जो संकेत किसी की इच्छा मात्र से दिया गया हो। जैसे, *'श्यामलाल'* से आप एक व्यक्तिविशेष का अर्थ ग्रहण करते हैं। यह नाम उसके माता-पिता के इच्छानुसार दिया गया। यानी किसी मनुष्य ने अपने लड़के का संकेत 'श्यामलाल' शब्द से किया। श्यामलाल का यह अर्थ सामयिक है। किसी स्थान में कुछ लोगों ने कुछ समय के लिये यह संकेत मान लिया है। इसलिये यह *आधुनिक* संकेत कहलाता है।

नोट—आचार्यों ने आजानिक संकेत के लिये *'शक्ति'** और आधुनिक संकेत के लिये *परिभाषा* नाम का व्यवहार किया है।

पद—शक्तिमान् शब्द को पद कहते हैं। जिस शब्द में एक अर्थविशेष द्योतन करने की शक्ति रहती है वह पद कहलाता है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि शब्द में किस अर्थ को प्रकाश करने की शक्ति है ? ।

(१) व्यक्ति विशेष (Individual) को ?
अथवा (२) जाति विशेष (Universal) को ?
अथवा (३) आकृति विशेष (Form) को ?

---

* कुछ आचार्य इसको ईश्वरकर्तृक मानते हैं। तर्कसंग्रहकार कहते हैं—"अस्मात् पदात् अयमर्थः बोद्धव्यः" इति ईश्वरसंकेतः शक्तिः।" अर्थात् 'घट' पद से जो घड़े का बोध होता है, यह संकेत (मानो) ईश्वरप्रदत्त है। इसी का नाम शक्ति है।

व्यक्ति—व्यक्ति का अर्थ है वह वस्तु जो अपने गुणों के साथ व्यक्त अर्थात् प्रत्यक्ष हो सके।

"*व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयो मूर्त्तिः।*"

(न्या० सू० २।२।६४)

अर्थात् गुणों का आधारस्वरूप जो मूर्त्तिवान् द्रव्य है वही व्यक्ति है। जिस द्रव्य में घट के विशिष्ट गुण मौजूद हों, वह घट है। और प्रत्येक घट पृथक-पृथक् व्यक्ति है।

जाति—जाति का लक्षण है—

"*समानप्रसवात्मिका जातिः।*"

(न्या० सू० २।२।६६)

अर्थात् भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में रहते हुए भी जो एक-सी जानी जाय वह जाति है। संसार में घट असंख्य हैं, किन्तु उनकी *जाति* (घटत्व) एक ही है। समान जाति के कारण भिन्न-भिन्न द्रव्य होते हुए भी सभी घड़े एक ही नाम से पुकारे जाते हैं। 'पट' आदि वस्तुओं की जाति भिन्न है। अतएव वे घट वर्ग में नहीं आते।

आकृति—आकृति के द्वारा ही जाति पहचानी जाती है।

"*आकृति र्जाति लिङ्गाख्या।*"

(न्या० सू० ।२।२।६५)

आकृति का अर्थ है स्वरूप अथवा अङ्गों की रचना। सींग, पूँछ, खुर, सिर और गर्दन आदि की शकल से हम पहचान जाते हैं कि यह 'गाय' है। पेंदी, विस्तार और मुँह की बनावट से पहचान जाते हैं कि यह 'घड़ा' है।

अब प्रश्न यह है कि 'गो' पद से किस अर्थ का बोध होता है? 'गाय' नामधारी व्यक्तियों का? अथवा गो की जाति का? अथवा गाय की आकृति का?

पद की शक्ति—अब 'गो' शब्द के भिन्न-भिन्न प्रयोगों पर ध्यान दीजिये।

(क) गाय चरती है।

(ख) गायों का झुंड बैठा है।

(ग) गाय का दान कीजिये।

(घ) गाय को भूसा खिलाइये।

इन प्रयोगों को देखने से मालूम होता है कि गाय से 'आकृति' का अर्थ नहीं लिया गया है; क्योंकि गाय की आकृति तो नहीं चरती है। इसी तरह जाति का अर्थ भी सङ्गत नहीं होता। क्योंकि गोत्व जाति को तो भूसा नहीं खिलाया जा सकता। अतएव यह स्पष्ट है कि 'गो' शब्द व्यक्ति के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

किन्तु ऐसा मानने से एक कठिनता आ पड़ती है। 'गो' पद से हम किस-किस व्यक्ति का ग्रहण करें? और किस-किस व्यक्ति का ग्रहण न करें? यह कैसे जाना जा सकता है? सामने जो व्यक्ति (गाय या नीलगाय) है, वह गोपद वाच्य है या नहीं इसका निश्चय कैसे होता है? आकृति देख कर ही तो इसका निश्चय होता है। नीलगाय या हरिण की आकृति गाय की आकृति से भिन्न होती है। अतएव उसे 'गो' नहीं कहते। जिन व्यक्तियों में गाय की आकृति पाई जाती हैं उन्हें ही 'गो' कहते हैं। अतएव यह कहना पड़ेगा कि 'गो' पद से *आकृति विशिष्ट व्यक्ति* का ही ग्रहण होता है।

किन्तु तो भी एक कठिनता रह जाती है। यदि मिट्टी की गाय बनाकर रख दी जाय (जिसकी आकृति हूबहू गाय की हो) तो 'गो' पद से उसका बोध नहीं होगा। "गाय को नहलाओ" "गाय को भूसा खिलाओ," आदि वाक्य कहने से उस मूर्त्ति (आकृति-विशिष्ट व्यक्ति) का ग्रहण नहीं होगा। क्योंकि उसमें गोत्व जाति नहीं है।

"व्यक्त्याकृतियुक्तेऽप्यप्रसङ्गात् प्रोक्षणादीनां मृद्गवके जातिः।"

—न्या० सू० २।२।६१

अतएव सिद्ध है कि *आकृति-जाति-विशिष्ट व्यक्ति* का ही ग्रहण 'गो' पद से हो सकता है। अर्थात् पद से *व्यक्ति*, *आकृति* और *जाति* इन तीनों का बोध होता है।

व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः।

—न्या० सू० २।२।६३

'गो' पद कहने से *व्यक्ति विशेष* का ग्रहण होता है, *आकृति विशेष* की सूचना मिलती है, और *जाति विशेष* का निर्देश होता है। यही नैयायिकों का मत है।

अवयवार्थ और समुदायार्थ—पद का अर्थ किस पर निर्भर करता है? वर्णसमुदाय (अक्षरसमूह) पर अथवा धातुप्रकृति प्रत्ययादि के संयोग पर? दूसरे शब्दों में यों कहिये कि पद का अर्थ स्वाधीन है अथवा व्युत्पत्ति के अधीन? नैयायिकों का मत है कि दोनों प्रकार के पद होते हैं। कुछ पद ऐसे होते हैं, जिनमें व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ होता है। जैसे *पाचक*। यहाँ पच् धातु (पकाना) में अक् प्रत्यय (कर्त्तासूचक) लगने से 'पाचक' शब्द निष्पन्न हुआ है। अतएव इस शब्द की शक्ति धात्वर्थ और प्रत्ययार्थ इन दोनों अवयवों के अधीन है। इसको '*अवयवार्थ*' कहते हैं। और कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनका अर्थ व्युत्पत्ति पर निर्भर नहीं करता। जैसे, गो। यहाँ गम् धातु (जाना) में डोस् (कर्त्ता-सूचक) प्रत्यय लगने से यह शब्द बना है। अतएव व्युत्पत्ति के अनुसार इसका अर्थ होगा गमनशील। किन्तु गमनशील तो बहुत-से पदार्थ हैं। मनुष्य, घोड़ा, हाथी, सभी चलते हैं।

किन्तु उन्हें तो हम 'गो' नहीं कहते। 'गो' कहने से एक खास पशु का बोध होता है। अतएव यहाँ 'गो' की शक्ति धात्वर्थ और प्रत्ययार्थ से स्वतन्त्र है। व्युत्पत्ति के साथ अर्थ का सम्बन्ध नहीं है। केवल ग्+ओ इन दो वर्णों के समुदाय पर ही अर्थ निर्भर करता है। ऐसे अर्थ को '*समुदायार्थ*' कहते हैं।

पद के भेद—अवयवार्थ और समुदायार्थ के अनुसार पदों के निम्नलिखित भेद किये जाते हैं—(१) *रूढ़* (२) *यौगिक* और (३) *योगरूढ़*।

१. रूढ़—जिस पद की प्रकृति (प्रयोग) व्युत्पत्ति के अधीन नहीं, वह रूढ़ कहलाता है। जैसे, घट, पट, जल, वृक्ष इत्यादि। इनका अर्थ धातु प्रत्ययादि अवयवों पर निर्भर नहीं करता। अर्थात् ये अवयवार्थ में प्रयुक्त नहीं होते। 'घ' 'ट' इन वर्णों के समुदाय में ही शक्ति है। इसलिये यह पद समुदायार्थ में प्रयुक्त होता है।

नोट—यहाँ एक मनोरंजक शंका है। 'घ' और 'ट' ये दोनों खण्ड निरर्थक हैं। केवल 'घ' कहने से कुछ अर्थ नहीं निकलता। तब 'ट' कहते हैं। किन्तु उसका भी कुछ अर्थ नहीं होता। अब ये दो निरर्थक शब्द एक सार्थक पद की सृष्टि कैसे कर सकते हैं? यदि यह कहिये कि दोनों के संयोग में शक्ति है तो यह शंका उत्पन्न होती है कि दोनों में संयोग ही कैसे संभव है? जब 'घ' था तब 'ट' नहीं और जब 'ट' हुआ तबतक 'घ' ही लुप्त हो गया। क्योंकि उच्चारण होते ही शब्द विलीन हो जाता है। फिर भाव और अभाव का संयोग कैसे हो सकता है?

वैयाकरण पद में स्फोट शक्ति की कल्पना करते हैं। उनका कहना है कि शक्ति वर्णों में नहीं, प्रत्युत अखण्ड समूह में रहती है। वर्णों का उच्चारण उस शक्ति को व्यक्त करता है, उत्पन्न नहीं। पद से पृथक् शब्द-खण्डों में कुछ भी शक्ति नहीं रहती। 'घ' और 'ट' की ध्वनियों में शक्ति नहीं है। 'घट' का जो अखण्ड शब्दात्मा है उसमें शक्ति है। इस शक्ति का नाम 'स्फोट' है। जिस प्रकार कई पुष्प सूत्र में ग्रथित होकर ही माला बन सकते हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न वर्ण पद-स्फोट में समन्वित होकर ही अर्थ प्रकाश कर सकते हैं।

नैयायिकगण **स्फोटवाद** का आश्रय नहीं लेते। उनका कहना है कि 'घ' और 'ट' इन दोनों वर्णों के ही समुदाय में शक्ति है। इनसे पृथक् कोई शब्दात्मा मानना व्यर्थ है। जब घट का अन्तिम 'ट' उच्चरित होता है तब हमारे मन में पूर्ववर्त्ती वर्ण 'घ' का संस्कार भी स्मृति के द्वारा बना रहता है। इन दोनों के संयोग से ही विशेषार्थ द्योतक शक्ति उत्पन्न होती है।

"तत्तद्वर्ण संस्कारसहित चरमवर्णोपलम्भेन तद्व्यञ्जके नैवोपपत्तिः।"

— सिद्धान्तमुक्तावली

२ यौगिक—जिस पद की प्रवृत्ति व्युत्पत्ति (प्रकृति प्रत्यय) के अनुसार होती है, उसे *यौगिक* कहते हैं। जैसे, दाता। यहाँ दा (देना) धातु में तृच् (कर्त्ता सूचक) प्रत्यय लगाने से यह शब्द व्युत्पन्न हुआ है। इस शब्द का अर्थ इन्हीं अवयवों (धातु और प्रत्यय) के अधीन है। अतएव यौगिक पदों का व्यवहार अवयवार्थ में होता है।

३ योगरूढ़—जिस पद का अर्थ कुछ तो अवयव पर निर्भर करे और कुछ समुदाय पर, उसे *योगरूढ़* कहते हैं। जैसे, पङ्कज। इसका अवयवार्थ हुआ 'जो कीचड़ में उत्पन्न हो।' कमल कीचड़ में ही उत्पन्न होता है। अतएव यहाँ अवयवों (पंक+ज) के साथ अर्थ का सम्बन्ध है। अतएव पंकज यौगिक हुआ। किन्तु साथ ही साथ यह भी देखने में आता है कि कीचड़ में और और भी बहुत सी चीजें (जैसे, कुमुद, कसेरू वगैरह) पैदा होती हैं। पर पंकज कहने से उनका बोध नहीं होता। और बहुत से कमल ऐसे भी होते हैं जो शुष्क स्थल में उगते हैं। ये स्थलपद्म पंक में उत्पन्न नहीं होते हुए भी 'पंकज' शब्द से गृहीत होते हैं। अतः 'पंकज' पद में व्युत्पत्यर्थ से विशेष शक्ति (समुदायार्थ) ही है। अर्थात् यह रूढ़ भी है। ऐसे पदों को योगरूढ़ कहते हैं क्योंकि वे अंशतः यौगिक और अंशतः रूढ़ हैं। इनमें अवयवार्थ और समुदायार्थ दोनों का समन्वय रहता है।

वाक्य—पदों के समूह का नाम 'वाक्य' है।

"वाक्यं पदसमूहः"

वाक्य से जो अर्थ निकलता है उसे '*शाब्दबोध*' अथवा वाक्यार्थज्ञान (Verbal Cognition) कहते हैं। शाब्दबोध के लिये प्राचीन आचार्य तीन वस्तुओं की अपेक्षा मानते हैं—(१) *आकांक्षा*, (२) *योग्यता*, (३) *सन्निधि* वा *आसत्ति*।

१. आकांक्षा—

वाक्य में एक पद को दूसरे पद की अपेक्षा रहती है।

"गाय चरती है।"

यहाँ 'गाय' *उद्देश्य* (Subiect) है और 'चरती है' *विधेय* (Predicate)। केवल 'गाय' इतना कहने से वाक्यार्थ का बोध नहीं होता। इसी तरह केवल 'चरती है' इतना कहने से शाब्दबोध की प्रतीति नहीं होती। जब दोनों का (उद्देश्य-विधेय का) परस्पर अन्वय होता है तब अर्थ निकलता है। इसी तरह 'केशव खीर खाता है' यहाँ कर्तृपद (केशव) कर्मपद (खीर) और क्रियापद (खाता है), इनमें प्रत्येक पद एक दूसरे की अपेक्षा रखता है।

केशव—क्या करता है? *खाता है*।

खाता है—कौन? *केशव*।

केशव खाता है—क्या चीज़—*खीर*।

इसी अपेक्षा का नाम है '*आकांक्षा*'।

केवल पदों के समूह से ही शाब्दबोध नहीं हो सकता। यदि हम कहें कि—

गाय-केशव-खीर तो इनसे अर्थ नहीं निकलता। क्योंकि इन पदों में 'आकांक्षा' नहीं है। आकांक्षित (परस्परापेक्षी) पदों से ही वाक्यार्थज्ञान होता है।

तर्कसंग्रहकार ने आकांक्षा की परिभाषा यों की है—

"*पदस्य पदान्तरव्यतिरेक प्रयुक्तान्वयाननुभावकत्वम् आकांक्षा।*"

अर्थात् एक पद दूसरे पद के सहारे पूर्णार्थ प्रकट करता है। अपने साथी पद के व्यतिरेक (विरह) में वह अर्थ प्रकाशन नहीं कर सकता। पदों की यह जो परस्परापेक्षा है उसी का नाम आकांक्षा है। *

२. आसत्ति—साकांक्ष पदों में सामीप्य (Juxtaposition) रहना भी आवश्यक है। यदि केशव' 'खीर' और 'खाता है' इन पदों के उच्चारण में एक-एक घंटे की देर हो, तो कुछ अर्थ समझ में नहीं आ सकता। इसलिये पदों का विना विलम्ब किये प्रयोग होना चाहिये। पदों की इस निकट-वर्त्तिता का नाम '*आसत्ति*' वा '*सन्निधि*' है।

"*पदानामविलम्बेनोच्चारणं सन्निधिः*"

— तर्कसंग्रह

वाक्यार्थ-बोध के लिये पदों का धारावाहिक रूप से प्रयोग होना चाहिये। उनके बीच में कुछ व्यवधान (अन्तर) नहीं रहना चाहिये। यदि 'गाय चरती है' इन पदों के बीच बीच में दूसरे-दूसरे पद सन्निविष्ट कर दिये जायँ, जैसे, "गाय *केशव* चरती *खीर* है *खाता है*" तो शाब्दबोध नहीं होगा। इसलिये जिन पदों का आपस में अन्वय है, उनको अव्यवहित रूप से सन्नद्ध रहना चाहिये। यही अव्यवहित सन्निधि वा आसत्ति शाब्दबोध का कारण है।

"*यत्पदार्थस्य यत्पदार्थेनान्वयोऽपेक्षित: तयोरव्यवधानेनोपस्थितिः कारणम्।*"

—सिद्धान्तमुक्तावली

३. योग्यता—आकांक्षा और आसत्ति रहते हुए भी यदि पदों में सामञ्जस्य नहीं है तो शाब्दबोध नहीं होगा। जैसे,

"*अग्नि से वृक्ष को सींचो।*"

---

* "*यत्पदेन विना यस्याननुभावकता भवेत्।*
आकांक्षा, (वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यं परिकीर्त्तितम्)।"

—भाषापरिच्छेद

यहाँ करणपद (आग) और क्रियापद (सींचना) में सामञ्जस्य नहीं है। अर्थात् दोनों की शक्तियाँ परस्पर विरुद्ध हैं। सींचने का अर्थ है जलकणों से अभिषिक्त करना। इसलिये अग्नि से सींचना असंभव है। अतएव यहाँ वाक्य का अर्थ बाधित हो जाता है, यानी कट जाता है। शाब्दबोध के लिये यह आवश्यक है कि परस्परान्वयी पदों में विरोधभाव नहीं हो। प्रयुक्त पदों के अर्थ एक दूसरे से बाधित नहीं हों। इसी का नाम *'योग्यता'* है।

"अर्थाबाधो योग्यता"

—तर्कसंग्रह

दूसरे शब्दों में यों कहिये कि जिन पदों के मिलाने से अर्थ की ठीक सङ्गति बैठे, उनमें योग्यता समझनी चाहिये। इसके विपरीत जिन पदों के मिलाने से अर्थ में अनर्गलता आ जाय वहाँ अयोग्यता समझनी चाहिये। सींचने की योग्यता जल में है * अग्नि में नहीं। इसलिये 'आग से सींचो' इस वाक्य में अयोग्यता दोष है और अतः शाब्दबोध की उपलब्धि नहीं होती।

तात्पर्य—नवीन नैयायिक शाब्दबोध के लिये *'तात्पर्य-ज्ञान'* भी आवश्यक समझते हैं। तात्पर्य का अर्थ है वक्ता का अभिप्राय। एक ही शब्द के कई अर्थ हो सकते हैं। उनमें वक्ता ने किस अर्थ में प्रयोग किया है यह देखना चाहिये। प्रकरण देख कर ही *विवक्षा* (वक्ता की इच्छा) का निश्चय किया जाता है। इसलिये जैसा प्रसङ्ग हो वैसा ही अर्थ लगाना चाहिये। मान लीजिये, भोजन करने के समय किसीने कहा—

"सैन्धवमानय"

अर्थात् *सैन्धव* लाओ। अब सैन्धव शब्द के दो अर्थ होते हैं—(१) नमक और (२) घोड़ा। भोजन के समय नमक का प्रयोजन होता है, घोड़े का नहीं। इसलिये यहाँ सैन्धव पद से नमक ही का अर्थ अभिप्रेत है। ऐसे अभिप्रेत वा विवक्षित अर्थ को समझना ही तात्पयज्ञान कहलाता है।

नोट—कुछ लोगों का मत है कि शाब्दबोध के लिये सर्वत्र तात्पर्यज्ञान की आवश्यकता नहीं होती। जहाँ अनेकार्थक पदों का प्रयोग रहता है, वहीं तात्पर्य निश्चय का प्रयोजन पड़ता है। कुछ नैयायिक तात्पर्य को आकांक्षा के भीतर ही अन्तर्भुक्त कर लेते हैं।

---

* *"पदार्थे तत्र तद्वत्ता योग्यता परिकीर्तिता।"*

—भाषापरिच्छेद

अभिधा और लक्षणा—

न्याय के आचार्यों ने शब्द की दो वृत्तियाँ * मानी हैं—(१) *अभिधा* (२) *लक्षणा*। शब्द की जो मुख्य वृत्ति होती है वह '*अभिधा*' कहलाती है। व्याकरण, कोष, आदि के द्वारा इसका ज्ञान होता है। † 'गो' पद से जो गोत्व जाति विशिष्ट व्यक्ति (गाय) का बोध होता है वही इस पद का '*अभिधार्थ*' अथवा '*वाच्यार्थ*' है।

किन्तु कहीं-कहीं पद का शाब्दिक अर्थ नहीं लेकर *लाक्षणिक* अर्थ लिया जाता है। जैसे,

"*वह आदमी बिल्कुल गाय है।*"

यहाँ गाय का अर्थ है 'सीधा'। गाय सीधी होती है,इसी लक्षण को ध्यान में रख कर 'गाय' शब्द का प्रयोग किया गया है। इसलिये यहाँ गाय का वाच्यार्थ नहीं लेकर '*लक्ष्यार्थ*' ग्रहण करना चाहिये। शब्द की यह जो गौण वृत्ति है वह '*लक्षणा*' कहलाती है।

लक्षणा दो प्रकार की होती है—(१) *जहल्लक्षणा* और (२) *अजहल्लक्षणा*।

जहल्लक्षणा—जहाँ पद का प्रकृत अर्थ बदल जाता है, वहाँ जहल्लक्षणा जानना चाहिये। जैसे,

"*लाल पगड़ी को बुलाओ।*"

यहाँ 'लाल पगड़ी' का अपना अर्थ बदल कर '*लाल पगड़ी वाला*' यह अर्थ हो जाता है। इसी तरह,

"*वह गाँव गंगाजी पर है।*"

यहाँ गंगाजी से 'नदी' का अर्थ छूट जाता है और उसमें 'तट' का अर्थ आरोपित हो जाता है। ये जहल्लक्षणा के उदाहरण हैं।

अजहल्लक्षणा—जहाँ पद का प्रकृत अर्थ नहीं छूटता (किन्तु तो भी केवल साधारण वाच्यार्थ नहीं लिया जाता) वहाँ अजहल्लक्षणा जानना चाहिये। जैसे,

"*काकेभ्यः दधि रक्षताम्*"

"दही को कौओं से बचाना।"

---

* साहित्य में तीन वृत्तियाँ मानी जाती हैं—(१) अभिधा (२) लक्षणा और (३) व्यञ्जना। किन्तु नैयायिक व्यंजना को अनुमान के अन्तर्गत कर लेते हैं।

† "शक्तिग्रहं व्याकरणोपमान कोषाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः।"

यह कहने का मतलब यह नहीं है कि केवल कौए से दही को बचाना और चील, बाज आदि पक्षियों को दही खाने देना। यहाँ वक्ता का लक्ष्य सभी दधिभक्षक जन्तुओं (विडाल, पक्षी आदि) से है। केवल निर्देश कौए का किया गया है। इसलिये 'कौआ' शब्द अपना अभिधेयार्थ रखते हुए भी लाक्षणिक रूप में प्रयुक्त हुआ है। यह अजहल्लक्षणा का उदाहरण हुआ।

शब्दप्रमाण—न्यायशास्त्र में शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण माना गया है। शास्त्र पुराण इतिहास आदि के विश्वसनीय वचनों से जो ज्ञान प्राप्त होता है वह न तो प्रत्यक्ष के अन्तर्गत आता है न अनुमान के। अतएव उसे पृथक् कोटि में रखा जाता है।

सभी तरह के शब्द प्रमाण-कोटि में नहीं लिये जा सकते। **गौतम** कहते हैं—

"आप्तोपदेशः शब्दः"

(न्या. सू. १।१।७)

अर्थात् आप्त व्यक्ति का उपदेश ही शब्द प्रमाण माना जा सकता है।

उपर्युक्त सूत्र का भाष्य करते हुए **वात्स्यायन** कहते हैं—

"आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा। यथा दृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्तः उपदेष्टा। साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः। तया प्रवर्तते इत्याप्तः। ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम् ....।"

अर्थात् अपने प्रत्यक्ष अनुभव से किसी विषय की जो जानकारी प्राप्त होती है उसे 'आप्ति' कहते हैं। अतएव आप्त व्यक्ति का अर्थ हुआ वह व्यक्ति जिसने उक्त पदार्थ का स्वयं साक्षात्कार किया हो। वह व्यक्ति औरों के उपकारार्थ जो स्वानुभवसिद्ध बात कहता है वह माननीय है। आप्त व्यक्ति वही है जो विषय का ज्ञाता और विश्वसनीय हो, चाहे वह म्लेच्छ ही क्यों न हो।

अन्नम् भट्ट कहते हैं—

"आप्तस्तु यथार्थ वक्ता।"

अर्थात् जो यथार्थ बात (जैसा देखा या सुना है) बोलने वाला है, उसी को 'आप्त' समझना चाहिये। उसका वचन प्रामाणिक होता है।

दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ शब्द—शब्द प्रमाण दो प्रकार का माना गया है—(१) *दृष्टार्थ* और (२) *अदृष्टार्थ*। जिसका अर्थ इस लोक में प्रत्यक्ष दीख पड़ता है उसको *दृष्टार्थ* कहते हैं। जैसे ज्योतिः शास्त्रोक्त ग्रहणविषयक वचन की यथार्थता प्रत्यक्ष देखने में आती है। इसी तरह आयुर्वेद के वचन का अर्थ प्रत्यक्ष सिद्ध होता है। इसे दृष्टार्थ अथवा लौकिक वाक्य कहते हैं।

जिसका अर्थ ऐहलौकिक विषय से नहीं, किन्तु पारलौकिक विषय से सम्बन्ध रखता है, उसको '*अदृष्टार्थ*' कहते हैं। वैदिक वाक्यों का अर्थ लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा सिद्ध नहीं होता। उन्हें अदृष्टार्थ कहते हैं।

गौतम का कहना है कि जिन आप्त ऋषियों ने दृष्टार्थ वाक्य कहे हैं उन्होंने अदृष्टार्थ वाक्य भी कहे हैं। जब हम एक को सत्य मानते हैं तब फिर दूसरे को भी सत्य क्यों नहीं मानें? जिस तरह मन्त्रशास्त्र और आयुर्वेद के वचन यथार्थ हैं, उसी प्रकार वेदोक्त वचन भी यथार्थ होंगे, क्योंकि सभी आर्य वचनों का उद्गमस्थान तो एक ही है।

"मन्त्रायुर्वेदप्रमाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्।"

(न्या. सू. २।१।६८)

जिस प्रकार हांड़ी का एक चावल टटोलने से मालूम हो जाता है कि उसमें सभी चावल सिद्ध हो गये हैं, उसी प्रकार (स्थालीपुलाकन्याय से) कुछ आप्त वाक्यों की सत्यता प्रत्यक्ष देखने से शेष वाक्यों की सत्यता का भी अनुमान होता है।

वैदिकवाक्य—वैदिक (अदृष्टार्थ) वाक्य तीन प्रकार के देखने में आते हैं—

(१) *विधिवाक्य*—अर्थात् आज्ञासूचक वाक्य वा आदेश। जैसे, '*अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः*" [स्वर्ग चाहनेवाला अग्निहोत्र (होम) करे]।

(२) *अर्थवाद*—अर्थात् वर्णात्मक वाक्य। यह चार प्रकार का होता है—

(क) *स्तुतिवाक्य*—जो विहित कर्म का इष्ट फल बतला कर उसकी प्रशंसा करता है। जैसे, "अमुक यज्ञ करने से देवताओं ने जय प्राप्त की।" फल की प्रशंसा सुनने से कर्म में प्रवृत्ति होती है।

(ख) *निन्दावाक्य*—जो निषिद्ध कर्म का अनिष्ट फल बतला कर उसकी निन्दा करता है। जैसे, "यह यज्ञ नहीं करने से मनुष्य नरकगामी होता है।" निन्दा सुनने से निवृत्ति होती है।

(ग) *प्रकृतिवाक्य*—जो मनुष्यकृत कर्मों में परस्पर विरोध दिखलाता है। जैसे, "कोई कोई इस प्रकार आहुति करते हैं और कोई उस प्रकार।"

(घ) *पुराकल्पवाक्य*—जो ऐतिह्य अर्थात् परम्परा से प्रचलित विधि बतलाती है। जैसे, "ऋषिमुनि ऐसा ही करते आये हैं; हम भी ऐसा ही करें।"

(३) *अनुवाद*—अर्थात् अनुवचन वाक्य (यानी जो बात कही गई है उसको दुहराना) यह दो प्रकार का होता है—

(क) *अर्थानुवाद* और (ख) *शब्दानुवाद*।

अनुवाद केवल पुनरुक्त नहीं है, क्योंकि यहाँ विशेष अभिप्राय से पुनर्वचन किया जाता है। अतएव यह निरर्थक नहीं है। वैदिक वाक्यों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में जो शंकाएँ की जाती हैं, उनका गौतम ने कई सूत्रों के द्वारा समाधान किया है। वेद की प्रामाण्यता पर निम्नलिखित आपत्तियाँ की जा सकती हैं—

(१) वैदिक वचनों का फल प्रत्यक्ष देखने में नहीं आता। पुत्रेष्टि यज्ञ करने पर भी पुत्रोत्पत्ति नहीं होती। तब वेदवाक्य को सत्य कैसे माना जाय?

(२) वैदिक वाक्यों में परस्पर विरोध भी देखने में आता है। जैसे, कहीं लिखा है कि सूर्योदय से पूर्व होम करना चाहिये और कहीं लिखा है कि सूर्योदय के पश्चात्। यह *वदतोव्याघात* नामक दोष है। दोनों वाक्य सत्य नहीं हो सकते। अतएव एक को मिथ्या मानना ही पड़ेगा।

(३) वैदिक ऋचाओं में वारंवार निरर्थक पुनरुक्ति देखने में आती है।

इन आक्षेपों का निराकरण करने के लिये गौतम ने क्रमशः तीन सूत्र कहे हैं—

(१) *न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्।*

(२) *अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात्।*

(३) *अनुवादोपपत्तेश्च।*

अर्थात्

(१) वेदोक्त यज्ञ करने से जब फलोत्पत्ति नहीं होती तब उसका कारण यह है कि या तो यज्ञकर्त्ता यज्ञ का यथार्थ अधिकारी (शुद्धाचरणयुक्त पात्र) नहीं रहता अथवा यज्ञ शुद्ध वैदिक प्रक्रिया के अनुसार नहीं हो पाता अथवा मन्त्रों का उच्चारण शुद्ध स्वर में नहीं होता।

(२) वैदिक वाक्यों में वदतोव्याघात दोष नहीं है। हाँ, जनसुविधार्थ वैकल्पिक नियम बतलाये गये हैं। इनमें से जिस नियम का पालन किया जाय उसका भङ्ग नहीं होना चाहिये।

(३) अनुवाद में जो पुनर्वचन किया जाता है उसे व्यर्थ पुनरुक्त नहीं समझना चाहिये। क्योंकि उसका अभिप्राय आशुकारिता है। "जाओ जाओ" दो बार कहने से बोध होता है कि 'तुरत चले जाओ'। अतएव यह द्विरुक्ति निरर्थक नहीं है।

वेद की प्रामाणिकता—न्याय-वैशेषिक के सभी आचार्यों का यही मत है कि वेद आप्तवाक्य होने से प्रामाणिक हैं। **उदयनाचार्य** और **अन्नम् भट्ट** प्रभृति वेद को ईश्वरप्रणीत कहते हैं। **मीमांसकगण** वेद को अपौरुषेय मानते हैं। उनका कहना है कि वेद नित्य है, उसका कर्त्ता कोई नहीं है। ऋषिमुनि मन्त्रों के रचयिता नहीं, केवल 'मन्त्रार्थद्रष्टा' थे। **उदयनाचार्य** ने इस मत का खण्डन किया है। उन्होंने "*तस्मात् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे*" आदि वैदिक मन्त्रों का हवाला देकर दिखलाया है कि ये निर्मित हैं, अनादि नहीं। वेदों की उत्पत्ति ईश्वर से है। अतएव वे अकर्तृक नहीं माने जा सकते।

शब्दानित्यत्ववाद—इसी प्रसङ्ग में नैयायिकों का शब्दविषयक अनित्यतवाद भी समझ लेना अच्छा होगा।

शब्द नित्य है या अनित्य ? इस प्रश्न को लेकर **न्याय** और **मीमांसा** में खूब ही झगड़ा है। मीमांसकों का कहना है कि शब्द नित्य है। जो 'क' आप आज सुनते हैं, वही शब्द अनादि काल से आकाश में वर्त्तमान है। उसकी न कभी उत्पत्ति होती है, न कभी विनाश होता है। हाँ, आवरण (व्यवधान) के कारण आप उसे सर्वदा नहीं सुन पाते। जब बीच का आवरण हट जाता है, तब आपको वह श्रुतिगोचर होता है। अतएव शब्द की *अभिव्यक्ति* होती है, *उत्पत्ति* नहीं। न्याय इस बात का खण्डन करता है। **गौतम** ने कई सूत्रों* के द्वारा इसका खण्डन किया है। नैयायिकों का कहना है कि शब्द का आदि (उत्पत्ति) और अन्त (विनाश) दोनों होता है। '*अकार*' '*ककार*' आदि कहने ही से बोध होता है कि ये शब्द क्रिया (*कार*) के द्वारा उत्पन्न किये गये हैं। यदि ये अनादि होते तो क्रिया के पूर्व भी प्रत्यक्ष रहते। किन्तु सो तो नहीं है। जब हम घंटी को हाथ से डुलाते हैं तभी शब्द सुनाई पड़ता है। ढोल जब तक पीटा नहीं जाता तब तक आवाज पैदा नहीं करता। इससे सिद्ध होता है कि दो वस्तुओं का संयोग होने पर ही शब्द की उत्पत्ति होती है, अन्यथा नहीं। अतएव शब्द संयोगज होने से सादि है और इसलिये नित्य नहीं माना जा सकता।

न्याय के अनुसार शब्द केवल *सादि* ही नहीं, *सान्त* भी है। अर्थात् उसका अन्त भी होता है। यदि शब्द का विनाश नहीं होता तब वह सर्वदा सुनाई पड़ता रहता। किन्तु ऐसा तो नहीं होता। इसलिये शब्द अविनाशी अथवा नित्य नहीं माना जा सकता।

जैमिनि का तर्क है कि शब्द का विनाशक कारण तो कुछ देखने में ही नहीं आता। तब उसका विनाश कैसे संभव है ? इसके उत्तर में **गौतम** कहते हैं कि शब्द का विनाशक कारण प्रत्यक्ष देखने में नहीं आता। किन्तु अनुमान के द्वारा जाना जा सकता है। **वात्स्यायन** इसको यों समझाते हैं। मान लीजिये, दो पदार्थों के टकराने से आकाश में कोई शब्द हुआ। वह शब्द दूसरा शब्द उत्पन्न करता है, दूसरा तीसरे को, तीसरा चौथे को, इसी प्रकार लगातार शब्दों का प्रवाह (*शब्द सन्तान*) तरङ्ग के समान जारी हो जाता है। इस तार में प्रत्येक पहला शब्द कारण हो सकता है और उसका पिछला शब्द कार्य शब्द होता है। कार्य शब्द की उत्पत्ति होने से कारण शब्द का अन्त हो जाता है। कतार (Series) का सबसे पिछला शब्द (अन्तिम कार्य शब्द) जब कोई प्रतिबन्धक (रुकावट, जैसे दीवाल की आड़) पाता तब तार टूट जाता है। क्योंकि आकाश में व्यवधान हो जाने से दूसरा शब्द नहीं बन सकता।

---

* देखिये, न्यायसूत्र, द्वितीय अध्याय, द्वितीय आह्निक, सूत्र १३ से ३८ तक।

इस प्रकार शब्द का प्रागभाव और पश्चादभाव दिखलाते हुए नैयायिकगण शब्द को अनित्य सिद्ध करते हैं। न्याय के अनुसार शब्द की *उत्पत्ति* होती है, *अभिव्यक्ति* नहीं। क्योंकि अभिव्यक्ति उस वस्तु को होती है जो पहले से ही वर्त्तमान थी किन्तु आवरण के कारण प्रकट नहीं दिखाई पड़ती थी। आवरण के हटते ही निहित वस्तु व्यक्त हो जाती है। जैसे, अँधेरे में घर की चीजें दिखलाई नहीं पड़तीं। वे अन्धकार के आवरण से ढकी रहती हैं। किन्तु दिया जलाते ही अन्धकार का आवरण हट जाता है और वे चीजें साफ-साफ दिखलाई देने लगती हैं।

यदि शब्द की सत्ता नित्य है तो वह शाश्वत क्यों नहीं बना रहता? यदि यह कहिये कि वह अव्यक्त रूप से वर्त्तमान है तो फिर हमारे उसके बीच में आवरण क्या है, जिसके कारण वह व्यक्त नहीं हो पाता? शब्द का आश्रय आकाश तो सर्वव्यापी है। वही आकाश हमारे कर्णकुहर में भी है। यदि शब्द नित्य होता तो बराबर सुनाई देता रहता। फिर ऐसा क्यों नहीं होता है? यदि यह कहा जाय कि कठिन पदार्थों का व्यवधान होने से आकाशगत शब्द की अनुभूति नहीं होती है तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि शून्य आकाश में, बिल्कुल उन्मुक्त स्थान में, तो कुछ आवरण नहीं रहता। फिर वहाँ विना उच्चारण के शब्द की अभिव्यक्ति क्यों नहीं होती?

अतएव सिद्ध है कि शब्द उत्पन्न होने पर ही सुनाई देता है। उच्चारण से पूर्व तो उसका अस्तित्व ही नहीं था। फिर उसकी *अभिव्यक्ति* कैसे हो सकती है? जब देवदत्त का जन्म ही नहीं हुआ था तब चिराग जलाने पर भी वह कहाँ दिखाई देता? इस प्रकार नैयायिकगण शब्द को अनित्य प्रमाणित करते हैं।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध—कुछ दर्शन (**बौद्ध, जैन, वैशेषिक**) शब्द को अनुमान के अन्तर्गत ही समझते हैं। अनुमान में प्रत्यक्ष *लिंग* (चिह्न) से परोक्ष *लिंगी* का ज्ञान प्राप्त होता है। धूम को देखकर अग्नि का निश्चय करते हैं। यहाँ प्रत्यक्ष हेतु से अज्ञात साध्य की उपलब्धि होती है। इसी प्रकार शाब्दिक ज्ञान में भी लिंग के द्वारा लिंगी की उत्पत्ति होती है। वाचक शब्द लिंग है और वाच्य पदार्थ लिंगी है। हम लिंग (शब्द) के द्वारा लिंगी (अर्थ) का निश्चय करते हैं। यहाँ भी प्रत्यक्ष हेतु (शब्द) से अप्रत्यक्ष साध्य (अर्थ) की उपलब्धि होती है। तब फिर शब्द को अनुमान से भिन्न क्यों माना जाय।

इसके उत्तर में गौतम कहते हैं कि जिस प्रकार धूम अग्नि का निश्चायक लिंग है, उस प्रकार '*स्वर्ग*' शब्द स्वर्ग पदार्थ का निश्चायक लिंग नहीं है। धूम और अग्नि

में व्याप्ति सम्बन्ध है। किन्तु वाचक शब्द और वाच्य पदार्थ में व्याप्ति सम्बन्ध नहीं है। यदि दोनों में ऐसा सम्बन्ध होता तो 'अन्न' शब्द का उच्चारण करते ही मुख में अन्न भर जाता। 'अग्नि' कहने से ही जलन होने लगती। और 'तलवार' बोलने से ही शरीर कट जाता। किन्तु ऐसा तो नहीं होता। इसलिये सिद्ध है कि शब्द में अर्थ का व्याप्ति सम्बन्ध नहीं है।

"पूरणप्रदाह पाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः"

(न्या० सू० ।२।१।५३)

यदि कहिये कि पदार्थ में शब्द की व्याप्ति है तो सो भी ठीक नहीं। क्योंकि घट शब्द के व्यतिरेक में भी घट पदार्थ रहता है। यदि यह कहिये कि शब्द में पदार्थ की व्याप्ति है तो सो भी ठीक नहीं। क्योंकि घट पदार्थ के अभाव में भी घट शब्द का व्यवहार (घटो नास्ति) होता है। अतएव यह सिद्ध है कि शब्द और अर्थ व्याप्तिसूत्र से सम्बद्ध नहीं हैं।

यहाँ एक शंका उठती है। जब शब्द और अर्थ में विशिष्ट सम्बन्ध नहीं है तब फिर सभी भी पदार्थों का ग्रहण क्यों नहीं होता? 'घट' कहने से केवल घड़े का बोध क्यों होता है? 'पट', 'दधि' आदि वस्तुओं का बोध क्यों नहीं होता?

इसके समाधान में गौतम कहते हैं कि शब्द और अर्थ का जो सम्बन्ध है वह स्वाभाविक (natural) नहीं, किन्तु 'सामयिक' (Conventional) है। लोगों ने मान लिया है कि अमुक वस्तु के लिये अमुक शब्द का प्रयोग किया जाय। अतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध 'ऐच्छिक' है, 'नैसर्गिक' नहीं।

दीप और प्रकाश में नैसर्गिक सम्बन्ध है। हम चाहें या नहीं, दीप से प्रकाश होगा ही और सबको एक समान दिखलाई पड़ेगा। दीप का प्रकाश हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं करता। किन्तु शब्द से जो अर्थ प्रकाश होता है वह इच्छा प्रसूत है। अर्थात् लोगों ने अपनी इच्छा से एक वस्तु का नाम 'घट' रख दिया और उस शब्द से वही वस्तु समझी जाने लगी। इसके अतिरिक्त समय-समय पर लोग अपनी इच्छा के अनुसार भिन्न-भिन्न अर्थों में शब्द का प्रयोग करते हैं। यदि शब्द और अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध रहता तो ऐसा नहीं होता। इसलिये शब्द और अर्थ का जो सम्प्रत्यय (व्यवस्थित सम्बन्ध) है, वह सामयिक सम्बन्ध है, व्याप्ति सम्बन्ध नहीं।

"न। सामयिकत्वाच्छब्दार्थ संप्रत्ययस्य।"

(न्या० सू० २।१।५५)

अतएव व्याप्ति सम्बन्ध का अभाव होने से शब्द अनुमान के अन्तर्गत नहीं आ सकता। स्वर्ग आदि शब्दों से जिन पदार्थों की प्रतीति होती है, वह व्याप्ति के कारण नहीं, किन्तु इसलिये कि वे **आप्त व्यक्ति** (सत्यवक्ता) के द्वारा बतलाये गये हैं। अतएव ज्ञानोत्पादन का सामर्थ्य केवल शब्द में नहीं है, किन्तु वक्ता की आप्तता में है।

"आप्तोपदेश सामर्थ्याच्छब्दादर्थ संप्रत्ययः।"

(न्या० सू० २।१।५२)

इस प्रकार शब्द की प्रमाणान्तरता सिद्ध होती है।

प्रमेय

[प्रमेय का अर्थ—द्वादशविध प्रमेय—शरीर—इन्द्रिय—अर्थ—बुद्धि—प्रवृत्ति—दोष—प्रेत्यभाव—फल—दुःख—अपवर्ग]

प्रमेय का अर्थ—जो प्रमा वा ज्ञान का विषय (object of knowledge) हो, वह '**प्रमेय**' कहलाता है।

प्रमाविषयत्वं प्रमेयत्वम्

इस प्रकार 'घट' 'पट' आदि सभी पदार्थ प्रमेय हैं।

वात्स्यायन कहते हैं—

योऽर्थः तत्त्वतः प्रमीयते तत्प्रमेयम्

अर्थात् जिस वस्तु का तत्त्व जाना जाय, वही प्रमेय है।

द्वादशविध प्रमेय—गौतम निम्नलिखित बारह प्रकार के प्रमेय बतलाते—

"आत्मशरीरेन्द्रियार्थ बुद्धिमनः प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफल दुःखापवर्गाः"

(न्या० सू० १।१।९)

(१) आत्मा (Soul)
(२) शरीर (Body)
(३) इन्द्रिय (Sense-organ)
(४) अर्थ (Sense-object)
(५) बुद्धि (Knowledge)
(६) मन (Mind)
(७) प्रवृति (Effort)
(८) दोष (Spring of Action)

(९) *प्रेत्यभाव* (Post-mortem existence)

(१०) *फल* (Fruit of Action)

(११) *दुःख* (Misery)

(१२) *अपवर्ग* (Liberation)

उपर्युक्त द्वादश प्रमेयों में आत्मा और मन का वर्णन कुछ अधिक विस्तार से आगे किया जायगा। यहाँ अवशिष्ट प्रमेयों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

शरीर—शरीर का अर्थ है

शीर्यते (प्रतिक्षणम्) इति शरीरम्।

जो अनुक्षण क्षीयमाण हो, उसी का नाम 'शरीर' है। शरीर ही सकल चेष्टाओं का आश्रय, सभी इन्द्रियों का आधार-स्थल और समस्त विषय-भोगों का केन्द्रविन्दु है। अतः **गौतम** का सूत्र है।

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्

—न्या० सू० १।१।११

वात्स्यायन कहते हैं—

आत्मनो भोगायतनं शरीरम्।

शरीर ही आत्मा के भोग का आयतन वा आश्रय है। विना शरीर के आत्मा को विषयोपभोग नहीं हो सकता। इसलिये शरीर 'भोगायतन' कहा जाता है। †

शरीर दो प्रकार का माना गया है—(१) *योनिज* और (२) *अयोनिज*। शुक्रशोणित के संयोग से उत्पन्न शरीर 'योनिज' और उससे भिन्न शरीर 'अयोनिज' कहलाता है। ‡ पशु-पक्षी मनुष्यादि के शरीर योनिज, और तैजस, वायव्य आदि शरीर अयोनिज हैं

पार्थिव शरीर चार तरह के होते हैं—

देहश्चतुर्विधो जन्तोर्ज्ञेय उत्पत्तिभेदतः
उद्भिज्जः स्वेदजोऽण्डोत्थश्चतुर्थश्च जरायुजः।

—योगार्णव

(१) उद्भिज्ज शरीर— वह है जो भूमि को फाड़कर निकलता है। यथा तृणगुल्मादि।

(२) स्वेदज शरीर— जो स्वेद (गर्मी) से उत्पन्न होता है। यथा कृमिकीटादि।

---

† यदवच्छिन्नात्मनि भोगो जायते तद्भोगायतनमित्यर्थः। —तर्कदीपिका

‡ शुक्रशोणितसन्निपातजन्यं योनिजम्। अयोनिजंच शुक्रशोणितसन्निपातानपेक्षम्।
(प्रशस्तपादभाष्य)

(३) अण्डज शरीर— जो अंडे से उत्पन्न होता है। यथा पक्षी, सरीसृप (सर्पादि) प्रभृति जन्तुओं के शरीर।

(४) जरायुज--जो गर्भ से उत्पन्न होता है। यथा मनुष्य और चतुष्पदों के शरीर।

इन्द्रिय—शरीर के जिन अवयवों के द्वारा विषय का ग्रहण होता है, वे 'इन्द्रिय' कहलाते हैं। *तर्ककौमुदी* में इन्द्रिय की यह परिभाषा दी गई है--

शरीरसंयुक्तं ज्ञानकरणमतीन्द्रियम् (इन्द्रियम्)

इन्द्रियों का स्वभाव है कि वे जिस विषय के साथ सम्बद्ध होती हैं, उसका प्रकाशन करती है, * किन्तु वे स्वतः प्रकाश्य नहीं होतीं। नेत्रेन्द्रिय के द्वारा हम सब कुछ देख सकते हैं, किन्तु स्वतः नेत्रेन्द्रिय को नहीं देख सकते। नेत्र का जो बाह्यरूप दिखलाई पड़ता है वह नेत्रेन्द्रिय नहीं, नेत्रेन्द्रिय का अधिकरण मात्र है। इसलिये इन्द्रियाँ स्वयं 'अतीन्द्रिय' कही जाती हैं। नव्यन्याय की भाषा में इन्द्रिय का लक्षण यों किया जाता है--

"साक्षात्कारमात्रवृत्ति धर्मावच्छिन्न कार्यतानिरूपित कारणताश्रय व्यापारवदतीन्द्रियम्"

—पदार्थचन्द्रिका

इन्द्रियाँ पाँच हैं--(१) *घ्राण* (नाक), (२) *रसन* (जीभ), (३) *चक्षु* (आँख), (४) *श्रोत्र* (कान) और *त्वक्* (चर्म)। इनसे क्रमशः गन्ध, रस, रूप, शब्द और स्पर्श का ग्रहण होता है।

उपर्युक्त इन्द्रियाँ वाह्य विषयों का ग्रहण करने के कारण *'वाह्येन्द्रिय'* कही जाती हैं। इनके अलावे आभ्यन्तरिक सुख-दुःखादि का अनुभव करनेवाला *'मन'* होता है, जो *'अन्तरिन्द्रिय'* समझा जाता है।

मन सहित उपर्युक्त पंचेन्द्रियाँ विषय-ज्ञान के अनुभव में निमित्त कारण होने से *'ज्ञानेन्द्रिय'* कहलाती हैं। इनके अतिरिक्त ऐसी भी इन्द्रियाँ हैं जो ज्ञान प्राप्ति का साधन न होकर कर्माचरण का साधन होती हैं। ये इन्द्रियाँ *'कर्मेन्द्रिय'* कहलाती हैं।

कर्मेन्द्रियाँ भी पाँच हैं--(१) *पाणि* (हाथ), (२) *पाद* (पैर), (३) *वाक्* (कण्ठ), (४) *पायु* (मलद्वार) और (५) *उपस्थ* (जननेन्द्रिय)। पाणि से ग्रहण, पाद से गमन, वाक् से भाषण, पायु से मल और अपान का विसर्जन, तथा उपस्थ से मूत्र और वीर्य का क्षरण होता है।

विषय का ग्रहण वा उपभोग करने में इन्द्रियाँ ही साधन (Means) स्वरूप हैं। अतः **वात्स्यायन** कहते हैं,

भोगसाधनानि इन्द्रियाणि

१।१।६

---

* इन्द्रियाणां स्वसम्बद्धवस्तु प्रकाशकारित्वम्।

मनसहित पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और पंच कर्मेन्द्रियाँ—इस तरह सब मिलाकर एकादश इन्द्रियाँ हैं। किन्तु दर्शनशास्त्र में 'इन्द्रिय' कहने से मुख्यतः ज्ञानेन्द्रिय का ही बोध होता है।

अर्थ—इन्द्रिय के द्वारा जिस विषय का ग्रहण होता है, वह 'अर्थ' कहलाता है। जैसे, पार्थिव द्रव्यों के गुण हैं गन्ध, रस, रूप और स्पर्श। ये इन्द्रियों के विषय होने के कारण 'अर्थ' हैं।* किस तत्त्व के साथ कौन-कौन अर्थ सम्बद्ध हैं, यह नीचे के कोष्ठक में दिया जाता है।

आकाश	शब्द
वायु	स्पर्श
तेज	स्पर्श + रूप
जल	स्पर्श + रूप + रस
पृथ्वी	स्पर्श + रूप + रस + गन्ध

एक इन्द्रिय एक ही अर्थ का ग्रहण कर सकती है। नेत्र से केवल रूप का ग्रहण हो सकता है, त्वचा से केवल स्पर्श का। नेत्रेन्द्रिय द्वारा स्पर्श का अथवा त्वचा द्वारा रूप का ज्ञान नहीं होता। इसलिये वात्स्यायन कहते हैं—

स्वस्वविषयग्रहणलक्षणानि इन्द्रियाणि

१।१।१२

कौन-सा अर्थ (विषय) किस इन्द्रिय के द्वारा गृहीत होता है, यह निचले कोष्ठक में दिया जाता है—

अर्थ	रूप	रस	गन्ध	स्पर्श	शब्द
इन्द्रिय	नेत्र (आँख)	रसना (जीभ)	घ्राण (नाक)	त्वचा (चर्म)	श्रोत्र (कान)

* गन्धरसरूपस्पर्शाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः।

—न्या० सू० १।१।१४

बुद्धि—बुद्धि का अर्थ है '*बुद्ध्यते अनया, इति बुद्धिः।* जिसके द्वारा आत्मा को किसी वस्तु का बोध हो, वही **बुद्धि** है। बुद्धि आत्मा का गुण है। आलंकारिक भाषा में इसे आत्मा का प्रकाश कह सकते हैं।+ यह आत्मा का वह प्रकाश है जिसके द्वारा सभी पदार्थ वा विषय आलोकित होते हैं।*

बुद्धि ही समस्त व्यवहारों का हेतु-स्वरूप है।

सर्वव्यवहार हेतुर्ज्ञानम् (बुद्धिः)

—तर्कसंग्रह।

बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान और प्रत्यय ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं।†

नैयायिकों के मतानुसार बुद्धि दो प्रकार की होती है—(१) *नित्या* और (२) *अनित्या*। नित्या बुद्धि परमात्मा की और अनित्या बुद्धि जीवात्मा की होती है। जीवात्मा की अनित्या बुद्धि भी दो प्रकार की होती है—(१) *स्मृति* और (२) *अनुभव*। फिर प्रत्येक के दो विभाग होते हैं—(१) *यथार्थ* और (२) *अयथार्थ*। यथार्थ अनुभव को *प्रमा* और अयथार्थ अनुभव को *अप्रमा* कहते हैं। प्रमा के चार भेद हैं—(१) *प्रत्यक्ष* (२) *अनुमिति* (३) *उपमिति* और (४) *शाब्दबोध*। अप्रमा वा भ्रम के भी मुख्यतः दो भेद माने गये हैं—(१) *संशय* और (२) *विपर्यय* (*मिथ्याज्ञान*)।

यह समस्त वर्गीकरण नीचे के कोष्ठक से सुस्पष्ट हो जायगा।
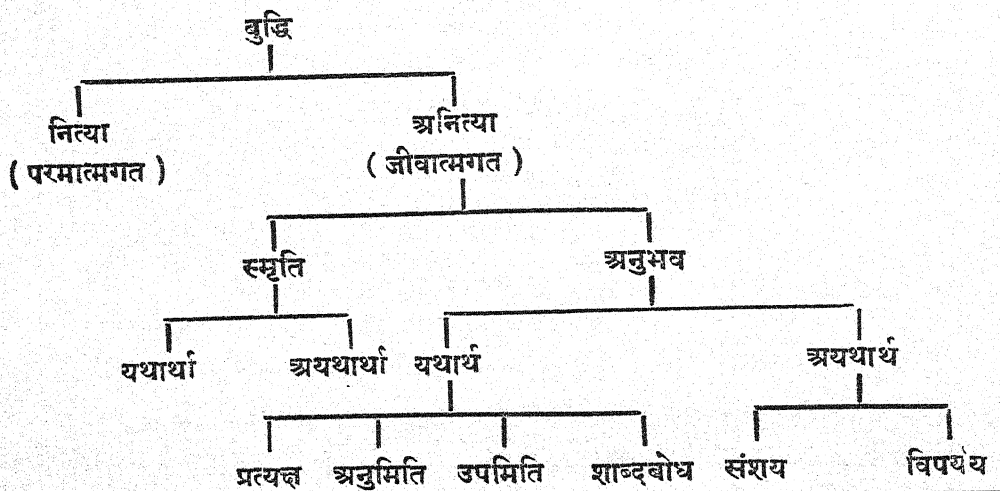
+ *आत्माश्रयः प्रकाशः* (पदार्थ-चन्द्रिका)

* *आत्मगुणत्वे सत्यर्थ प्रकाशः* (तर्कप्रकाश)

† *बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं प्रत्यय इति पर्यायाः* (वैशेषिक उपस्कार)

प्रवृत्ति——प्रवृत्ति का अर्थ है किसी कार्य को करने की इच्छा से तदनुकूल व्यापार करना।

चिकीर्षाजन्यो यत्नः (प्रवृत्तिः)

—तर्ककौमुदी

किसी कार्य में प्रवृत्ति इस प्रकार होती है। पहले तत्कार्यप्रयुक्त *फल का ज्ञान* होता है। फिर उस *फल की इच्छा* होती है। तब अभीष्ट सिद्धि के साधन या *उपाय का ज्ञान* होता है। फिर उस *उपाय* को काम में लाने की *इच्छा* होती है। तब उस कार्य की ओर प्रवृत्ति होती है। †

प्रवृत्ति तीन प्रकार की होती है—

(१) *शारीरिक*—यथा, परित्राण (रक्षा), परिचरण (सेवा) और दान।

(२) *मानसिक*—यथा, दया, स्पृहा, श्रद्धा।

(३) *वाचिक*—यथा, सत्य, हित, प्रिय, स्वाध्याय।

उपर्युक्त दस प्रवृत्तियों से धर्म होता है। अतः ये *'पुण्य'* कहलाती हैं। इनसे प्रतिकूल कार्यों की ओर प्रवृत्ति को *'पाप'* कहते हैं।

पाप प्रवृत्तियों के उदाहरण ये हैं—

(१) *शारीरिक*—हिंसा, अपहरण, व्यभिचार।

(२) *मानसिक*—घृणा द्रोह, परहानिचिन्ता।

(३) *वाचिक*—असत्यभाषण, कटुवचन इत्यादि।

दोष——जिस कारण से किसी कार्य में प्रवृत्ति होती है, उसे *'दोष'* कहते हैं। **गौतम** कहते हैं—

"प्रवर्त्तनालक्षणाः दोषाः"

—न्या० सू० १।१।१८

दोष तीन प्रकार के हैं—(१) *राग*, (२) *द्वेष* और (३) *मोह*।

(१) **राग**—जिसके द्वारा किसी विषय में आसक्ति होती है, उसे *'राग'* कहते हैं।

आसक्तिलक्षणो दोषः *(रागः)*

काम, *मत्सर*, *स्पृहा*, *तृष्णा*, *लोभ*, *माया*, और *दम्भ*, ये राग के प्रभेद हैं।

---

† *प्रथमतः* फलज्ञानम्। *ततः* फलेच्छा। *ततः* इष्टसाधनताज्ञानम् उपाये। *ततः* उपायेच्छा *ततः प्रवृत्तिरुत्पद्यते।* —*तर्कप्रकाश।*

(२) **द्वेष**—जिसके द्वारा किसी विषय से विरक्ति होती है, उसे 'द्वेष' कहते हैं।

अमर्षलक्षणो दोषः (द्वेषः)

क्रोध ईर्ष्या, असूया, द्रोह, अमर्ष और अभिमान, ये द्वेष के प्रभेद हैं।

(३) **मोह**—जिसके द्वारा किसी विषय के सम्बन्ध में भ्रान्ति होती है, उसे 'मोह' कहते हैं।

मिथ्याप्रतिपत्तिलक्षणो दोषः (मोहः)

विपर्यय, संशय, तर्क, मान, प्रमाद, भय और शोक, ये मोह के प्रभेद हैं।

प्रेत्यभाव—प्रेत्यभाव का अर्थ है,

प्रेत्य मृत्वा भावो जननं प्रेत्यभावः।

—विश्वनाथवृत्ति

अर्थात् मृत्यु के उपरान्त पुनः जन्म होना ही 'प्रेत्यभाव' कहलाता है।

मरणोत्तरं जन्म प्रेत्यभावः

—तर्कदीपिका

गौतम कहते हैं—

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः

—न्या० सू० १।१।१९

मृत्यु के अनन्तर पुनः उत्पन्न होना अर्थात् शरीरान्तर और उसके साथ-साथ इन्द्रिय, मन, बुद्धि और संस्कारों से युक्त होना ही *'प्रेत्यभाव'* है। *

नैयायिकों (और अन्यान्य **आस्तिक दार्शनिकों**) का मत है कि मृत्यु से आत्मा का नाश नहीं होता। केवल प्राचीन शरीर के साथ उसका सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, और वह नवीन शरीर में प्रवेश करता है। प्राचीन शरीर-त्याग के अनन्तर नवीन शरीर में प्रवेश होना ही 'प्रेत्यभाव' वा 'पुनर्जन्म' कहलाता है।†

फल—किसी कर्म का जो अन्तिम परिणाम होता है, वह *'फल'* कहलाता है।

गौतम कहते हैं—

प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम्।

—न्या० सू० १।१।२०

---

* *उत्पन्नस्य सम्बद्धस्य सम्बन्धस्तु देहेन्द्रियमनोबुद्धिवेदनाभिः पुनरुत्पत्तिः पुनर्देहादिभिः सम्बन्धः।*

—वात्स्यायन १।१।१९

† *पूर्वोपात्तशरीरादिपरित्यागादन्यशरीर संक्रान्तिः (प्रेत्यभावः)*

—न्यायवार्त्तिक १।१।१९

न्यायमतानुसार फल दो प्रकार का है—(१) *मुख्य* और (२) *गौण*। मुख्य फल है सुख वा दुःख का उपभोग।

सुखदुःखसंवेदनं फलम्।

एतदतिरिक्त अन्यान्य फलों को गौण समझना चाहिये। यथा यज्ञ से धर्मजन्य सुख का प्राप्त होना मुख्य फल और वर्षा आदि का होना गौण फल है।

दुःख—जिससे क्लेश वा पीड़ा का अनुभव हो, वह दुःख कहलाता है। **गौतम** कहते हैं,

बाधनालक्षणं दुःखम्।

न्या० सू० १।१।२१.

जिसकी कोई इच्छा नहीं करे, जो सब को बुरा वा प्रतिकूल मालूम हो, उसी को दुःख समझना चाहिये। इसीलिये **वात्स्यायन** दुःख की परिभाषा करते हुए कहते हैं,

प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम्।

इस प्रकार दुःख का लक्षण है (१) *बाधनात्मकत्व* और (२) *प्रतिकूल वेदनीयत्व*। ×

दुःख की उत्पत्ति अधर्म से होती है। † इसलिये *भाषापरिच्छेद* में दुःख की परिभाषा की गई है—

अधर्मजन्यं सचेतसां प्रतिकूलम् (दुःखम्)

दुःख मुख्यतः तीन प्रकार के माने गये हैं—*

(१) *आध्यात्मिक*—जैसे शारीरिक रोग और मानसिक शोक।

(२) *आधिभौतिक*—जैसे, सर्प व्याघ्रादि का उत्पात।

(३) *आधिदैविक*—जैसे, भूतप्रेतादिजनित बाधा।

नैयायिक गण दुःख के इक्कीस भेद गिनाते हैं—१ *शरीर* + ६ *इन्द्रियाँ* + ६ *विषय* + ६ *प्रत्यक्ष* + १ *सुख* + १ *दुःख* = **२१ दुःख**।

शरीर दुःखायतन होने के कारण दुःख माना गया है।

× प्रतिकूलवेदनीयतयाबोधनात्मकं (दुःखम्)

—सर्वदर्शन संग्रह।

† अधर्ममात्रासाधारणकारणक गुणः (दुःखम्)

—सि० च०

* इन तीनों का विशेष विवरण सांख्य दर्शन में मिलेगा।

इन्द्रियाँ, विषय और प्रत्यक्ष, ये दुःख के साधन होने के कारण दुःख हैं। सुख भी दुःख के साथ सम्बद्ध होने से दुःख कोटि में परिगणनीय है। और दुःख तो स्वतः दुःख है ही।*

कविकल्पलता में लौकिक दुःख के कतिपय अनुभवसिद्ध कारण बतलाये गये हैं। पाठकों के मनोरञ्जनार्थ उनके नाम दिये जाते हैं—१ *पारतन्त्र्य* (किसी के आधीन होकर रहना), २ *आधि* (मानसिक चिन्ता) ३ *व्याधि* (शारीरिक रोग), ४ *मानच्युति* (अपमान होना), ५ *शत्रु*, ६ *कुभार्या*, ७ *दारिद्रय* ८ *कुग्रामवास*, ९ *कुस्वामि सेवन* १० *बहुकन्या* (बहुत लड़कियों का पैदा होना), ११ *वृद्धत्व*, १२ *परगृहवास*, १३ *वर्षा-प्रवास* (बरसात में घर से बाहर रहना), १४ *भार्याद्वय* (दो पत्नियों का होना), १५ *कुभृत्य*, १६ *दुर्हलकरणक कृषि* (खराब हल से खेती करना)।

इसी प्रकार *वराहपुराण* में भी दुःख के अनेक कारण गिनाये गये हैं।

अपवर्ग—सभी प्रकार के दुःखों से सर्वदा के लिये छुटकारा पा जाना 'मोक्ष' या 'अपवर्ग' कहलाता है।

गौतम कहते हैं,

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः

—न्या० सू० १।१।२.

इसका आशय भाष्यकार यों समझाते हैं,

यदा तु तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानमपैति तदा मिथ्याज्ञानापाये दोषा अपायान्ति। दोषापाये प्रवृत्तिरपैति प्रवृत्यपाये जन्मापैति जन्मापाये दुःखमपैति। दुःखापाये चात्यान्तिकोऽपवर्गो निःश्रेयसम्

—वात्स्यायनभाष्य १।१।२

अर्थात् जब तत्त्वज्ञान के द्वारा मिथ्या ज्ञान का नाश होता है, तब (मिथ्याज्ञान नष्ट होने पर) सभी दोष दूर हो जाते हैं। दोषों के अभाव में प्रवृत्ति लुप्त होती है। प्रवृत्ति का लोप होने पर जन्म का बन्धन छूट जाता है। जन्म का बन्धन छूट जाने पर समस्त दुःख निवृत्त हो जाते हैं। दुःखों की यह आत्यन्तिक निवृत्ति ही 'मोक्ष', 'अपवर्ग' या *'निःश्रेयस'* है।

---

* दुःख मेकविंशतिभेदभिन्नम्। तथाहि शरीरं षडिन्द्रियाणि षड्विषया षड्विधानि प्रत्यक्षाणि सुखं दुःखं चेति। तत्र शरीरं दुःखायतनत्वाद्दुःखम्। इन्द्रियाणि विषयाः प्रत्यक्षाणि च तत्साधनत्वात्। सुखं च दुःखानुषङ्गात्। दुःखं तु स्वरूपत एव।

—तर्कभाषा०

आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्तिः (मोक्षः)

—त० कौ०

दुःख की '*आत्यन्तिक निवृत्ति*' का अर्थ है,

यद्वा निर्वत्य सजातीयस्य दुःखस्य पुनस्तत्रानुत्पादः

—स०द०सं०

अर्थात् दुःख का ऐसा समूल नाश जो फिर कभी उसका प्रादुर्भाव ही न होने पावे। पैर में काँटा गड़ने से दुःख होता है। उसे निकाल देने से दुःख-निवृत्ति हो जाती है। किन्तु यह दुःख-निवृत्ति *आत्यान्तिकी* नहीं है। क्योंकि फिर भी भविष्य में वैसा दुःख प्राप्त हो सकता है। अर्थात् कण्टकजनित क्लेश का सजातीय दुःख पुनः उत्पन्न हो सकता है। *आत्यान्तिकी दुःख-निवृत्ति* वह है जो दुःख का मूलोच्छेद ही कर डाले। ऐसा तभी हो सकता है जब इक्कीसों प्रकार के दुःख नष्ट हो जायँ। †

एकविंशतिभेद भिन्नस्य दुःखस्यात्यन्तिकी निवृत्तिः (मोक्षः)

—तर्कभाषा

दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति किस प्रकार हो सकती है? इसके उत्तर में **वार्त्तिककार** कहते हैं—

तस्य हानिर्धर्माधर्मसाधनपरित्यागेन।

अनुत्पन्नयोर्धर्माधर्मयोरनुत्पादेन उत्पन्नयोश्चोपभोगात् प्रक्षयेण इति।

अर्थात् दुःख को समूल नाश करने का उपाय है सकल धर्माधर्म साधनों का परित्याग। जो धर्माधर्म किये जा चुके हैं, उनका संस्कार फल भोग कर लेने पर निःशेष हो जाता है। तब यदि नये धर्माधर्म की उत्पत्ति नहीं होगी तब सकल प्रवृत्ति दोषादि का क्षय होकर आवागमन का चक्र छूट जायगा और इस तरह दुःख का अत्यन्ताभाव हो जायगा।

आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति वा मुक्ति दो प्रकार की मानी गई है—(१) *अपरा* और (२) *परा*।

इसी जीवन में तत्त्वज्ञान के द्वारा सभी दोषों का नाश होकर जो मुक्ति मिलती है वह *अपरा* मुक्ति कहलाती है। जो व्यक्ति इस अवस्था को प्राप्त करता है, वह *जीवन्मुक्त*

† अहितनिवृत्तिरप्यात्यन्तिकीअनात्यन्तिकी च।

अनात्यन्तिकी कण्टकादेर्दुःखसाधनस्य परिहारेण।

आत्यन्तिकी पुनरेकविंशतिभेदभिन्नदुःखहान्या।

—न्यायवार्त्तिक

कहलाता है। वह इसी देह से प्रारब्ध कर्मों का फलोपभोग द्वारा क्षय करते हुए मुक्त हो जाता है।

परा मुक्ति नाना योनियों में क्रमपूर्वक निरन्तर अभ्यास करने से होती है।

किन्तु मुक्ति की दोनों ही अवस्थाओं में मिथ्याज्ञान और तज्जनित वासनाओं का अन्त हो जाता है।†

इसी मुक्ति को **सूत्रकार** *'निःश्रेयस'* वा *'अपवर्ग'*, **भाष्यकार** *'चरमदुःखध्वंस'* और **वार्त्तिककार** *'आत्यन्तिक दुःखाभाव'* कहते हैं।

मोक्ष-प्राप्ति के लिये वासनाओं का अन्त होना जरूरी है। वासनाओं का मूल कारण है मिथ्याज्ञान। अतः मिथ्याज्ञान के नाश से वासनाओं का मूलोच्छेद हो जाता है। मिथ्याज्ञान की निवृत्ति तत्त्वज्ञान से ही हो सकती है। इस प्रकार तत्त्वज्ञान (प्रमाणादि पदार्थों का ज्ञान) निःश्रेयस का *साक्षात् कारण* (Immediate cause) न होते हुए भी उसका *परम्पराकारण* (Remote cause) सिद्ध होता है। अतएव **गौतम** के प्रारम्भिक सूत्र की प्रतिज्ञा—

"तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः"

अभिप्राय से खाली नहीं है; उसमें गंभीर अर्थ निहित है।

---

† उभयविधनिःश्रेयससाधारणलक्षणं तु सवासनमिथ्याज्ञानध्वंसत्वम्।

—न्या० सि० दी०

आत्मा

[आत्मा का निरूपण—शरीरात्मवाद और उसका खण्डन—इन्द्रियात्मवाद और उसका निरास—मनसात्मवाद और उसका समाधान—बुद्ध्यात्मवाद और उसका निराकरण—आत्मा के विषय में सिद्धान्त—आत्मा की सिद्धि में प्रमाण—आत्मा का स्वरूप—(आत्मा का विभुत्व और नित्यत्व)—अनेकात्मवाद—जीवात्मा के गुण ।]

आत्मा का निरूपण—*न्यायसूत्र* के तृतीय अध्याय में **गौतम** ने आत्मा का सविस्तर निरूपण किया है।

गौतम इस प्रकार उपन्यास (विषयारम्भ) करते हैं—

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्

—न्या० सू० ३।१।१

अब इस सूत्र का भाव समझिये। नेत्र के द्वारा किसी विषय का दर्शन होता है और हाथ के द्वारा उसी का स्पर्श भी होता है। अब इन दो इन्द्रियों से जो ज्ञान उत्पन्न होते हैं, उनका ग्रहण करनेवाला एक है या दो? यदि द्रष्टा और स्प्रष्टा ये दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति माने जायँ, तो एक का ज्ञान दूसरे को कैसे प्राप्त होगा? वैसी अवस्था में द्रष्टा को स्पर्शज्ञान नहीं हो सकता और स्प्रष्टा को दर्शज्ञान नहीं हो सकता। किन्तु यह बात अनुभवसिद्ध है कि देखनेवाला और छूनेवाला एक ही व्यक्ति होता है।

भाष्यकार वात्स्यायन कहते हैं,

"दर्शनेन कश्चिदर्थो गृहीतो स्पर्शनेनापि सोऽर्थो गृह्यते।

'यमहमद्राक्षं चक्षुषा तं स्पर्शनेनापि स्पृशामि यं चास्प्राक्षं स्पर्शनेन तं चक्षुषा पश्यामि'

अर्थात् जो वस्तु देखी जाती है, वह छुई भी जाती है। तभी तो हमलोगों को यह प्रत्यभिज्ञा (स्मृति) होती है कि 'जिस वस्तु को मैंने देखा था उसे छू रहा हूँ,' अथवा जिसे छुआ था उसे देख रहा हूँ।' इस तरह सूचित होता है कि भिन्न-भिन्न इन्द्रिय-जन्य

ज्ञान एक *विषयक* और एक कर्तृक हैं। अर्थात् भिन्न-भिन्न ज्ञानों का आधार वा ज्ञाता एक ही है।

अब प्रश्न उठता है कि यह ज्ञाता है कौन? *शरीर*? अथवा *इन्द्रिय*? या *मन*? अथवा *बुद्धि*? **गौतम** यह सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं कि इनमें एक भी ज्ञाता नहीं माना जा सकता। ज्ञाता की सत्ता इन सबसे पृथक् है। उसी पृथक् सत्ता का नाम '*आत्मा*' है। यह स्थापित करने के लिये सूत्रकार एक-एक कर सभी मतान्तरों का खण्डन करते हैं।

शरीरात्मवाद और उसका खण्डन—चार्वाक प्रभृति अनात्मवादी कहते हैं कि देह से अतिरिक्त और कोई ज्ञाता नहीं है। चैतन्य शरीर का ही गुण विशेष है। जिस तरह विशेष अवस्था में गुड़, मांड़ वगैरह के मिल जाने से मादक शक्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है, उसी तरह भिन्न-भिन्न भौतिक द्रव्यों के विशेष संयोग से चैतन्य की उत्पत्ति हो जाती है।

किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत् चैतन्यमुपजायते

—चार्वाक दर्शन

शरीर नष्ट होने पर चैतन्य भी लुप्त हो जाता है। अतएव ज्ञाता कर्त्ता भोक्ता सब कुछ शरीर ही है। इससे भिन्न आत्मा नामकी कोई चीज नहीं है। इस मत को '*शरीरात्मवाद*' कहते हैं।

नैयायिक गण इस मत का जोरदार खण्डन करते हैं। उनकी मुख्य युक्तियाँ ये हैं—

(१) यदि चैतन्य शरीर का ही धर्म रहता तो वह शरीर के मूलभूत उपादानों में भी पाया जाता। क्योंकि जो गुण अवयव में रहते हैं वे ही गुण अवयवी में हो सकते हैं। घट पट आदि की तरह शरीर भी सावयव होने के कारण कार्य है। और कार्य में कारण से अधिक गुण नहीं आ सकता। मद के उपादानभूत द्रव्यों में (गुड़ आदि में) पहले ही से थोड़ी-थोड़ी मात्रा में मादक शक्ति मौजूद रहती है। तभी तो उनके सम्मिश्रण से वह प्रचुर परिमाण में प्रकट हो जाती है। किन्तु शरीर के कारणभूत जो पृथ्वी, जल आदि तत्त्व हैं, वे जड़ हैं। अतः उनसे चैतन्य की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? जो धर्म शरीर के अवयवों में है ही नहीं, वह शरीर में कहाँ से आयगा? जिस तरह केवल अनेक शून्यों के योग से कोई संख्या नहीं बन सकती, उसी तरह अनेक जड़ तत्त्वों के योग से भी चैतन्य की सृष्टि नहीं हो सकती। इसलिये जड़ शरीर से आत्मा को भिन्न मानना पड़ेगा।

(२) यदि शरीर में चैतन्य का होना माना जाय तो फिर घड़े में क्यों नहीं? क्योंकि घट भी तो उन्हीं भौतिक द्रव्यों से बना है, जिनसे शरीर की रचना हुई है। अतः या तो

दोनों को जड़ मानना पड़ेगा या दोनों को चेतन। किन्तु घट में चैतन्य की उपलब्धि नहीं होती। इसलिये **गौतम** का सूत्र है,

कुम्भादिष्वनुपलब्धेरहेतुः

—न्या० सू० ३।२।३८

जिस प्रकार भौतिक घट अचेतन है, उसी प्रकार भौतिक शरीर भी अचेतन है। चेतन सत्ता या आत्मा इससे भिन्न ही पदार्थ है।

(३) यदि शरीर स्वभावतः चेतन होता तो केश, नख आदि अवयवों में भी चैतन्य पाया जाता। किन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। इसलिये चैतन्य शरीर का धर्म नहीं माना जा सकता। जैसा सूत्रकार कहते हैं—

केशनखादिष्वनुपलब्धेः

—न्या० सू० ३।२।४४

(४) यदि थोड़ी देर के लिये मान भी लिया जाय कि शरीर के समस्त अवयव चेतन हैं, तो दूसरी कठिनता आ पड़ती है। क्योंकि अवयव अनेक होने से उनके आश्रित चैतन्य भी अनेक होंगे और उनमें भिन्नता रहेगी। ऐसी स्थिति में कोई अवयव एक प्रकार की इच्छा करेगा तो दूसरा और ही प्रकार की। और एक समय में एक ही ज्ञान वा प्रयत्न का होना असंभव हो जायगा; किन्तु ऐसा नहीं होता। एक ही समय में दो विरुद्ध ज्ञान या प्रयत्न किसी में नहीं देखे जाते। इससे सिद्ध है कि चैतन्य अवयवगत धर्म नहीं है।

(५) शारीरिक अवस्थाओं में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। बाल्यकाल का शरीर युवावस्था में नहीं रहता, और युवावस्था का शरीर वृद्धावस्था में नहीं रहता। यदि चैतन्य शारीरिक गुण होता तो शरीर-भेद से उसमें भी भेद होता रहता। अर्थात् बाल्यावस्था में प्राप्त किया हुआ अनुभव प्रौढ़ावस्था में नहीं पाया जाता। किन्तु ऐसा नहीं होता। चैतन्य ज्यों-का-त्यों बना रहता है। इससे सिद्ध होता है कि वह शरीर से स्वतन्त्र है।

(६) यदि यह कहा जाय कि शरीर में वृद्धि और ह्रास होने पर भी कुछ अणु अक्षुण्ण बने रहते हैं जिनसे चैतन्य की एकता (Continuity) कायम रहती है, तो यह भी माननीय नहीं। क्योंकि पिता के शरीर के कुछ अणु पुत्र के शरीर में अक्षुण्ण रहते हैं। फिर पिता का प्राप्त किया हुआ अनुभव पुत्र में क्यों नहीं पाया जाता?

(७) यदि चैतन्य शरीर का गुण रहता तो रूप, स्पर्श आदि की तरह उसमें भी 'यावद्भावित्व' रहता। अर्थात् जबतक शरीर रहता तबतक चैतन्य गुण भी बना रहता।

यावच्छरीरभावित्वाद्रूपादीनाम्।

—न्या० सू० ३।२।५०

मृत्यु के उपरान्त भी जबतक शरीर मौजूद रहता है, तबतक उसमें रूप, आदि गुण वर्त्तमान रहते हैं, किन्तु चैतन्य लुप्त हो जाता है। मृतक शरीर की कौन कहे, जीवित शरीर में भी कभी कभी (जैसे समाधि अवस्था में) चैतन्य का लोप देखा जाता है। अतः चैतन्य शरीराश्रित गुण नहीं माना जा सकता।

(८) कुछ लोग कह सकते हैं कि मृत्यु के उपरान्त शरीर का रूप आदि भी तो विकृत हो जाता है। किन्तु इसका उत्तर यह है कि रूप आदि का आत्यन्तिक अभाव शरीर में कभी नहीं हो सकता। पाक † के द्वारा शरीर में *रूपान्तर* होता है, किन्तु *रूपाभाव* नहीं। किन्तु मृत्यु के बाद शरीर में चैतन्य का सर्वथा अभाव हो जाता है, न कि केवल पाकज परिवर्त्तन। जैसा सूत्रकार कहते हैं,

न पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः

—न्या० सू० ३।२।५१

इसलिये रूपादि की तरह चैतन्य भी शरीर का गुण नहीं माना जा सकता।

(९) चैतन्य का अर्थ है विषयज्ञान (Object-Consciousness)। विषय (Object) और विषयी (Subject) दोनों एक नहीं हो सकते। शरीर चैतन्य का विषय है। अतएव वह (शरीर) विषयी नहीं हो सकता।

(१०) यदि शरीर और आत्मा में कोई भेद नहीं माना जाय तो शास्त्रोक्त धर्म, कर्म, पुनर्जन्म और मोक्ष, ये सब असंभव हो जाँयगे और पाप-पुण्य में कुछ भी भेद नहीं रह जायगा। यदि शरीर से भिन्न कोई आत्मा नहीं माना जाय, तो इस शरीर से किये हुए कर्मों का फल मृत्यु के उपरान्त कौन भोग करेगा? यदि कहिये कि कोई नहीं तो फिर पाप-पुण्य का भेद ही क्या रहा? यदि कहिये कि दूसरा शरीर उसका भोग करेगा तो यह भी ठीक नहीं। ऐसा मानने से जिसने कर्म किया वह तो बेदाग बच जाता है और जिसने कर्म नहीं किया उसको फल भोगना पड़ता है। इस प्रकार *कृतहानि* और *अकृताभ्यागम* नामक दोष उपस्थित हो जाते हैं। इसलिये आत्मा को शरीर से पृथक् मानना आवश्यक है।

तदेवं सत्त्वभेदे कृतहानमकृताभ्यागमः प्रसज्यते

—वात्स्यायन भाष्य

† 'पाक' का वर्णन वैशेषिक दर्शन में देखिये।

इन्द्रियात्मवाद और उसका निरास—कुछ लोगों का कहना है कि नेत्र आदि इन्द्रियाँ स्वयं ही चेतन स्वरूप क्यों न मानी जायँ? उनसे भिन्न ज्ञाता या आत्मा मानने की जरूरत ही क्या है? इन्द्रियाँ ही ज्ञान का आधार हैं और उनसे पृथक् कोई आत्मा नहीं है। इस मत का नाम *इन्द्रियात्मवाद* है।

इस मत के खण्डन में **नैयायिक** लोग निम्नलिखित युक्तियाँ देते हैं।

(१) नेत्र नष्ट हो जाने पर भी रूप का संस्कार (Memory) बना रहता है। यदि इन्द्रिय से भिन्न कोई ज्ञाता नहीं रहता तो यह स्मृति-संस्कार किसे होता? यह तो असंभव है कि देखे कोई, और स्मरण करे कोई और। जिसने देखा है, वही स्मरण कर सकता है। द्रष्टा और स्मर्त्ता दोनों एक ही व्यक्ति हो सकता है। इसलिये इन्द्रिय को द्रष्टा मानने से स्मृति की उपपत्ति नहीं हो पाती। अतः इन्द्रियों से पृथक् कोई ऐसी चेतन सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी जो प्रत्यक्ष अनुभव और स्मृति इन दोनों का आधार है।

(२) एक बात और है। जिस चीज को हम बाईं आँख से देखते हैं, उसी को दाहिनी आँख से देखने पर भी पहचान जाते हैं। यह प्रत्यभिज्ञा (Recognition) कैसे होती है? जो एक बार देख चुका है, वही तो दूसरी बार देखकर पहचान सकता है। यह कैसे हो सकता है कि पहले बाईं आँख देखे, और पीछे दाहिनी आँख पहचाने? इससे सिद्ध होता है कि ये आँखें स्वतः द्रष्टा नहीं हैं। ये दृष्टि के करण या साधन मात्र हैं। इनका उपयोग करनेवाला—द्रष्टा—कोई और ही है। अतः **सूत्रकार** कहते हैं—

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात्

—न्या० सू० ३।१।७

(३) यहाँ यह आक्षेप किया जा सकता है कि दोनों नेत्र वस्तुतः एक ही हैं। इसलिये देखी हुई वस्तु की प्रत्यभिज्ञा हो जाती है। इसके उत्तर में **गौतम** का कहना है कि—

एकविनाशे द्वितीयाविनाशान्नैकत्वम्

—न्या० सू० ३।१।९

अर्थात् एक आँख फूट जाने पर भी दूसरी आँख बनी रहती और अपना काम करती रहती है। इसलिये दोनों एक नहीं मानी जा सकतीं।

(४) रूप रस आदि विषयों का ज्ञाता इन्द्रियों से पृथक् व्यक्ति है, इस पक्ष के समर्थन में गौतम एक और युक्ति देते हैं—

इन्द्रियान्तरविकारात्

—न्या० सू० ३।१।१२

जब आप इमली सरीखे किसी खट्टे फल को देखते हैं,तब चट आपके मुँह में पानी भर आता है। इसका कारण क्या है? इमली का खट्टा स्वाद। किन्तु देखने से तो केवल रूप का ज्ञान हो सकता है, स्वाद का नहीं। फिर दर्शन-मात्र से आपके दाँत क्यों सिहर उठते हैं। इससे सूचित होता है कि दर्शन और आस्वादन, इन दोनों क्रियाओं का कर्त्ता एक ही है; और वही पूर्वानुभव के संस्कार से रूपविशेष को देखकर रसविशेष का स्मरण करता है।

आशय यह है कि यदि इन्द्रियों से पृथक् आत्मा की सत्ता नहीं स्वीकार की जाती है; तो भिन्न-भिन्न इन्द्रियजन्य ज्ञानों का समन्वय (Synthesis) नहीं हो सकता, और प्रत्यभिज्ञा, स्मृति आदि के कारण सिद्ध नहीं होते। इसलिये इन्द्रियों से पृथक् आत्मा का अस्तित्व मानना आवश्यक है।

मानसात्मवाद और उसका समाधान—यहाँ प्रतिपक्षी गण एक दूसरा पैतरा बदलकर आ सकते हैं। वे कह सकते हैं, "अच्छा, स्वयं इन्द्रियों को हम ज्ञाता नहीं मानते हैं; किन्तु इससे यह कैसे सिद्ध होगा कि आत्मा ही ज्ञाता है? यदि हम मन को ही ज्ञाता मानें तो क्या हर्ज है? मन सभी इन्द्रियों का राजा और सर्वविषयग्राही है। जो बातें आत्मा के सम्बन्ध में कही गई हैं, वे मन के विषय में भी लागू हो सकती हैं। फिर मन से भिन्न आत्मा की सत्ता मानने की क्या आवश्यकता? इस मत को **'मानसात्मवाद'** कहते हैं।

इस मत की आलोचना करते हुए **गौतम** पूछते हैं, पहले यह तो बताओ कि *'मन'* शब्द से तुम्हारा क्या अभिप्राय है? 'मन' से तुम मनन क्रिया का साधन—अर्थात् आन्तरिक ज्ञान का कारण (अन्तः करण) समझते हो अथवा इस साधन (अन्तः करण) के द्वारा ज्ञान प्राप्त करनेवाला कर्त्ता समझते हो? यदि मन को *अन्तःकरण* के अर्थ में लेते हो, तो फिर उस करण का कर्त्ता या ज्ञाता भिन्न ही मानना पड़ेगा। क्योंकि करण और कर्त्ता दोनों एक नहीं हो सकते। और यदि मन को ज्ञाता के अर्थ में लेते हो तो फिर वह किस इन्द्रिय के द्वारा आन्तरिक सुख-दुःख का अनुभव प्राप्त करता है? वाह्येन्द्रिय से तो उनका ग्रहण नहीं हो सकता। अतएव तुम्हें कोई आन्तरिक इन्द्रिय—*मतिसाधन*—स्वीकार करना पड़ेगा। यदि तुम ऐसा मान लेते हो तो फिर हममें और तुममें कोई झगड़ा ही नहीं रह जाता। क्योंकि हमारा प्रतिपाद्य विषय इतना ही है कि ज्ञाता (आत्मा) वाह्य और आभ्यन्तरिक इन्द्रियों से पृथक् है और इस बात को तुम भी स्वीकार करते हो। फर्क सिर्फ इतना ही है कि जिसे हम 'मन' कहते हैं उसे तुम 'मतिसाधन' के नाम से बतलाते

हो, और जिसे हम 'आत्मा' कहते हैं उसे तुम 'मन' संज्ञा देते हो। यह केवल शब्द मात्र का भेद है, वस्तु में कोई अन्तर नहीं।"

इसलिये **गौतम** का सूत्र है—

ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम्

—न्या० सू० ३।१।१७

बुद्ध्यात्मवाद और उसका निराकरण—कुछ लोगों का मत है कि बुद्धि वा ज्ञान से भिन्न ज्ञाता मानने की जरूरत नहीं। बुद्धि स्वतः विषय को प्रकाश कर उसका अनुभव प्राप्त करती है। अतः बुद्धि और आत्मा में कोई भेद नहीं। इस मत को '*बुद्ध्यात्मवाद*' कहते हैं।

नैयायिक गण उपर्युक्त मत का खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि बुद्धि या ज्ञान गुण है, और गुण द्रव्य के आश्रित ही रह सकता है। इसलिये ज्ञानरूपी गुण का आधार-भूत द्रव्य अवश्य ही मानना पड़ेगा। यही द्रव्य 'आत्मा' है।

अतएव *तर्कसंग्रह* में कहा गया है—

ज्ञानाधिकरणम् आत्मा

नैयायिक गण बुद्धि वा ज्ञान को अनित्य मानते हैं। बुद्धि के कुछ विषय ऐसे होते हैं जो तुरत विलीन हो जाते हैं, जैसे शब्द, और कुछ विषय ऐसे होते हैं जो चिरस्थायी रहते हैं, जैसे पर्वत। किन्तु किसी भी विषय का संवेदन (Sensation) वा संस्कार (Idea) जनित अनुभव सर्वदा क्षणिक ही होता है। कोई भी विज्ञान (Cognition) स्थायी नहीं होता। जिस प्रकार नदी में निरन्तर तरंगों का प्रवाह जारी रहता है, उसी प्रकार अंतःकरण में अनुक्षण भावों का प्रवाह चलता रहता है। इस विज्ञान धारा (Stream of Consciousness) का ज्ञाता क्षणिक बुद्धि (Momentary Experience) नहीं होकर नित्य आत्मा (Permanent Self) ही हो सकता है। वही **सर्वद्रष्टा, सर्वभोक्ता** और **सर्वानुभवी** है।

आत्मा के विषय में सिद्धान्त—जिस प्रकार रथ को संचालित करने-वाला सारथी होता है, उसी प्रकार शरीर को संचालित करनेवाला आत्मा है। यही आत्मा सभी इन्द्रियों का उपयोग करनेवाला है। † मन इसका संवादवाहक मात्र है, जो

† यो प्राणादीनां करणानां प्रयोक्ता स आत्मा।

—वै० उ०

आत्मा और इन्द्रियों के मध्य में दूत का काम करता है। बुद्धि आत्मा का गुण है। इस प्रकार आत्मा शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि इन सबसे पृथक् है।

"शरीरेन्द्रियबुद्धिभ्यः पृथगात्मा विभुर्ध्रुवः"

—(वै० उ०)

आत्मा की सिद्धि में प्रमाण—आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये **नैयायिक** गण निम्नलिखित प्रमाणों की सहायता लेते हैं—

(क) प्रत्यक्ष—प्रत्येक मनुष्य को '*अहं सुखी*' '*अहं दुःखी*' '*अहं जानामि*' '*अहम् इच्छामि*' (अर्थात् 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ', 'मैं जानता हूँ', 'मैं चाहता हूँ') ऐसा भान होता है। यह *अहं प्रत्यय* (Perception of Me) का भाव सब में रहता है। '*अहं नास्मि*' (मैं नहीं हूँ) ऐसा अनुभव किसी को नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि '*अहम्*' या जीवात्मा मानसप्रत्यक्षगोचर है।

किन्तु मानस प्रत्यक्ष के द्वारा अपने ही आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है, दूसरे आत्मा का नहीं। और अपना आत्मा भी शुद्ध रूप में मानस प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। वह जब प्रकट होता है तब सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न या ज्ञान के आधार रूप में ही। अर्थात् योग्य विशेष गुण से संयुक्त 'अहम्' का ही भान होता है। **न्याय-वैशेषिक** के कुछ आचार्यों का मत है कि शुद्ध आत्मा (Pure Ego) का भी यौगिक प्रत्यक्ष के द्वारा साक्षात्कार हो सकता है।

(ख) अनुमान—आत्मा का अस्तित्व मुख्यतः अनुमान प्रमाण के बल पर ही सिद्ध किया जाता है। करण का व्यापार देखने से कर्त्ता का अनुमान होता है। इसलिये नेत्रादि ज्ञानसाधन करणों का कार्य देखकर उनके प्रयोग कर्त्ता आत्मा का अस्तित्व सूचित होता है। * इस युक्ति का विस्तार प्रारंभ ही में किया जा चुका है।

(ग) शब्द—आत्मा के अस्तित्व का प्रमाण श्रुति में भी मिलता है। उपनिषदों में ऐसे अनेक वचन मिलते हैं, यथा—

"आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"

---

* करणव्यापारः सकर्तृकः करणव्यापारत्वात् छिदिक्रियायां वास्यादिव्यापारवत्। करणव्यापारेण कर्त्तुरनुमानगम्यत्वे तत्साजात्यात् ज्ञानक्रियाकरणमपि सकर्तृकं करणत्वात् इति चक्षुरादिना ज्ञानसाधनेनात्मनोऽनुमानम्।

—वाचस्पत्य

इस प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान, और शब्द ये तीनों प्रमाण आत्मा के अस्तित्व के साधक होते हैं।

आत्मा का स्वरूप—आत्मा का कुछ रूप नहीं है। इसलिये यह दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। स्पर्शादिगुण रहित होने से यह अन्यान्य इन्द्रियों का भी विषय नहीं हो सकता। आत्मा ज्ञान वा चैतन्य का अमूर्त्त निराकार आश्रय है।

आत्मा देशकाल (Space and time) के बन्धनों से अवच्छिन्न वा सीमित (limited) नहीं है। इसलिये वह *विभु* (Allpervading) और *नित्य* (Eternal) कहा जाता है।*

देश के बन्धन को *इयत्ता*, *मूर्त्ति* वा *परिमाण* (Magnitude) कहते हैं। आत्मा की कोई इयत्ता (limitation) नहीं है। वह दिक्काल और आकाश की तरह अमूर्त्त वा निराकार (Formless) है। मन और आत्मा में यह भेद है कि मन अणुपरिमाण है, किन्तु आत्मा देशपरिच्छेद से रहित है। वह आकाश की तरह सर्वगत या सर्वव्यापी है। ऐसे पदार्थ को *विभु* कहते हैं। दिक्, काल, आकाश और आत्मा ये चारों विभु पदार्थ हैं।

आत्मा *अणु परिमाण* (Atomic) नहीं माना जा सकता। क्योंकि अणु (Atom) के गुण प्रत्यक्ष नहीं देखे जा सकते। किन्तु आत्मा के गुण (बुद्धि, इच्छा, प्रभृति) मानस प्रत्यक्ष गम्य होते हैं।

यदि आत्मा को घटपटादि की तरह *मध्यम परिमाण* (Medium size) वाला पदार्थ माना जाय, तो यह प्रश्न उठता है कि उसका आकार कितना बड़ा है? यदि वह शरीर से छोटा (यथा अंगुष्ठपरिमाण) है, तो फिर एक साथ सम्पूर्ण शरीर में चैतन्य की व्याप्ति क्योंकर होती है? यदि उसका आकार शरीरतुल्य माना जाय तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि शरीर का आकार गर्भावस्था से ही बढ़ने लगता है। यदि आत्मा का आकार शरीर से बड़ा माना जाय तो फिर वह शरीर में प्रवेश कैसे करता है? यदि यह कहिये कि आत्मा का परिमाण भी (शरीर की तरह) घटता-बढ़ता रहता है, तो यह भी युक्तिसंगत नहीं, क्योंकि उपचय और अपचय (वृद्धि और ह्रास) केवल सावयव पदार्थ का ही हो सकता है, और आत्मा निरवयव (Partless) है।

---

* अनवच्छिन्नसद्भावं वस्तु यद्देशकालतः
तन्नित्यं विभुचेच्छन्तीत्यात्मनो विभुनित्यता।
—स० द० सं०

इन सब बातों से सिद्ध होता है कि आत्मा का कोई आकारविशेष नहीं है। वह आकाश की तरह *परम महत्* (All-pervasive) वा *'विभु'* पदार्थ है।

आत्मा *नित्य* पदार्थ है। नित्य का अर्थ है उत्पत्ति-विनाश-शून्य।

प्रागभावाप्रतियोगित्वे सति ध्वंसाप्रतियोगित्वं नित्यत्वम्

—तर्कप्रकाश

उत्पत्ति उसी वस्तु की होती है जिसका पहले अभाव (प्रागभाव) था। आत्मा का अस्तित्व सर्वदा से विद्यमान है। उसका अभाव किसी समय में नहीं था। अतः वह उत्पत्ति-रहित वा अनादि है।

विनाश उसी वस्तु का हो सकता है, जो सावयव हो। संयुक्त अवयवों का छिन्न-भिन्न हो जाना ही विनाश कहलाता है। किन्तु आत्मा के अवयव हैं ही नहीं, फिर पृथक्-करण किसका होगा? इसलिये आत्मा का विनाश होना असंभव है। उसका प्रध्वंसाभाव कभी नहीं हो सकता। अतः आत्मा नाशरहित वा अनन्त है।

उत्पत्ति और नाश सावयव कार्य पदार्थों के ही हुआ करते हैं। पृथक् अवयवों का संयोग *'उत्पत्ति'* और संयुक्त अवयवों का विच्छेद *'विनाश'* कहलाता है। किन्तु आत्मा आकाश की तरह *विभु* (सर्वगत) और *अवयवरहित* है। † इसलिये इसकी उत्पत्ति वा विनाश असंभव है। यह *अजन्मा* और *अमर* है। इस प्रकार अनादि और अनन्त होने के कारण आत्मा *'नित्य'* कहा जाता है। इसका भाव सर्वदा शाश्वत रूप से वर्त्तमान रहता है, कभी अभाव नहीं होता। इसलिये दिक्, काल और आकाश की तरह आत्मा भी नित्य पदार्थ है।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब आत्मा देशकाल से परे—*असीम* (Infinite) है, तब फिर *ससीम* (Finite) शरीर के साथ उसका संयोग कैसे होता है? इसके उत्तर में **नैयायिकों** का कहना है कि—

पूर्वकृतफलानुबन्धात्

अर्थात् पूर्वकर्म का फल भोग करने के निमित्त ही आत्मा को भौतिक शरीर का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। इसलिये शरीर आत्मा का *'भोगायतन'* कहा गया है।

उद्योतकर कहते हैं कि माता-पिता के तथा अपने कर्म के प्रभाव से गर्भाशय में शिशु-शरीर की उत्पत्ति होती है। अदृष्ट संस्कार के अनुरूप ही आत्मा के लिये शरीर तैयार होता है। शरीर को आत्मा का आवास (Abode) नहीं, प्रत्युत भोगसाधन (Instru-

† विभुत्वान्नित्योऽसौ व्योमवत्

—तर्कभाषा

ment of Enjoyment) मात्र समझना चाहिये। शरीर से संयुक्त होने पर भी आत्मा की व्यापकता उसी प्रकार बनी रहती है, जिस प्रकार घट से संयोग होने पर भी आकाश की व्यापकता बनी रहती है। हाँ, जिस प्रकार घटाकाश में थोड़ी देर के लिये विशेष गुण आ जाता है, उसी प्रकार शरीरस्थ आत्मा में भी इच्छा, द्वेष आदि धर्म प्रादुर्भूत हो जाते हैं।

अनेकात्मवाद—आत्मा एक है या अनेक? इस प्रश्न पर **नैयायिकों** का **वेदान्तियों** से मतभेद है। **वेदान्त** मतानुसार प्रत्येक जीव में एक ही आत्मा है जो उपाधि-भेद से भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है। किन्तु **न्याय** (**सांख्य** की तरह) प्रत्येक जीव में पृथक्-पृथक् आत्मा मानता है।

जीवस्तु प्रतिशरीरं भिन्नः

—तर्कसंग्रह

नैयायिक गण आत्मा के दो भेद मानते हैं—(१) **जीवात्मा** और (२) **परमात्मा** जीवात्मा अनेक और प्रति शरीर में भिन्न-भिन्न हैं। परमात्मा एक ही है। जीव जन्य (और इसलिये *अनित्य*) ज्ञान का अधिकरण होता है, किन्तु परमात्मा नित्य शाश्वत ज्ञान का भंडार है। यह सर्वज्ञ परमात्मा **'ईश्वर'** कहलाता है।

केवल 'आत्मा' शब्द से मुख्यतः जीवात्मा का ही ग्रहण होता है। यहाँ भी इसी अर्थ में 'आत्मा' शब्द का प्रयोग किया गया है।*

जीवात्मा के गुण—महर्षि **गौतम** आत्मा के लक्षण यों बतलाते हैं—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानानि आत्मनो लिङ्गम्।

—न्या० सू० १।१।१०

१ *इच्छा* (Desire), २ *द्वेष* (Aversion), ३ *प्रयत्न* (Volitional Effort), ४ *सुख* (Pleasure) ५ *दुःख* (Pain) और ६ *ज्ञान* (Cognition), ये जीवात्मा के गुण हैं। जीव प्रयत्नशील होने के कारण *कर्त्ता*, सुखी-दुःखी होने के कारण *भोक्ता* और ज्ञानवान् होने के कारण *अनुभवी* है।

किन्तु आत्मा का यह कर्त्तृत्व-भोक्तृत्वादि गुण तभी तक रहता है जबतक वह शरीर के साथ सम्बद्ध रहता है। शारीरिक बन्धन से मुक्त हो जाने पर इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि सभी लुप्त हो जाते हैं। मोक्ष प्राप्त होने पर आत्मा बिल्कुल शान्त और निर्विकार हो जाता

* परमात्मा या ईश्वर का वर्णन परिशिष्ट भाग में देखिये।

है। उस अवस्था में उसे न सुख रहता है न दुःख। चैतन्य वा ज्ञान भी तिरोहित हो जाता है। क्योंकि आत्मा के सुख, दुःख, ज्ञान आदि समस्त धर्म शरीरसापेक्ष हैं। जब मन इन्द्रिय-सहित शरीर से आत्मा का सम्पर्क छूट जाता है, तब ये धर्म भी नष्ट हो जाते हैं। उस अवस्था में आत्मा की स्थिति प्रायः उसी प्रकार की हो जाती है जिस प्रकार गाढ़ सुषुप्तावस्था में। वह जड़ पाषाणवत् संज्ञाशून्य हो जाता है।

मन

[मन का लक्षण—मन का प्रमाण—मन का स्वरूप—मन की गति]

मन का लक्षण— मन का अर्थ है *"मन्यते अनेन इति मनः"*। जो मनन (Thinking) का साधन, अर्थात् सोचने-समझने का द्वार है, वही **'मन'** कहलाता है।

मन ही सभी इन्द्रियों का प्रवर्त्तक है। चक्षु आदि बाह्येन्द्रियाँ जो विषय ग्रहण करती हैं, उसे मन ही आत्मा के पास पहुँचाता है। आभ्यन्तरिक सुख-दुःख आदि का अनुभव साक्षात् मन के द्वारा ही होता है। मन *आभ्यन्तरिक इन्द्रिय* का भी काम करता है और साथ-ही-साथ *बाह्येन्द्रियानुग्राहक* का भी। अतः मन समस्त ज्ञान का कारण स्वरूप है। *

'मैं सुखी हूँ' (वा दुःखी हूँ) ऐसा अनुभव कराने वाला कारण मन ही है। † इसलिये **तर्कसंग्रहकार** 'मन' की यह परिभाषा देते हैं।

सुखाद्युपलब्धि साधनमिन्द्रियं मनः।

विश्वनाथ पंचानन कहते हैं—

साक्षात्कारे सुखादीनां, करणं मन उच्यते।

—भाषा परिच्छेद

तर्कदीपिका में मन का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है,

"मनसो लक्षणं च स्पर्शरहितत्वे सति क्रियावत्त्वम्"

अर्थात् मन की विशेषता यह है कि वह अस्पृश्य (और अतः अदृश्य) पदार्थ होते हुए भी क्रिया करने में समर्थ है।

---

* मनःसर्वेन्द्रियप्रवर्त्तकम् आन्तरेन्द्रियम् स्वसंयोगेन बाह्येन्द्रियानुग्राहकम् अतएव सर्वोपलब्धि कारणम्। —तर्कभाषा

† 'मयिसुखम्' इति सुखप्रत्यक्षस्यासाधारणं कारणम्।

मन का प्रमाण—अब प्रश्न यह है कि जब मन दृष्टिगोचर नहीं है, वायु की तरह स्पर्शगोचर भी नहीं है, तो फिर इसका अस्तित्व कैसे जाना जा सकता है ? इसके उत्तर में **गौतम** कहते हैं—

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिः मनसो लिङ्गम्

न्या० सू० १।१।१६

अर्थात् मन का अस्तित्व अनुमान से सिद्ध होता है। एक साथ (युगपत्) अनेक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकते। इससे सूचित होता है कि इन्द्रियों से भिन्न एक ऐसा पदार्थ है जो भिन्न-भिन्न इन्द्रियज ज्ञानों को बारी-बारी से आत्मा के समक्ष उपस्थित करता है। इसीका नाम *मन* है—

भाष्यकार कहते हैं,

अनिन्द्रियजनिमित्ताः स्मृत्यादयः कारणान्तरं निमित्ता भवितुमर्हन्ति इति । युगपच्च खलु घ्राणादीनां गन्धादीनां च सन्निकर्षेषु सत्सु युगपद्ज्ञानानि नोत्पद्यन्ते । तेनानुमीयते अस्ति तत्तदिन्द्रिय संयोगि सहकारि निमित्तान्तरम् अव्यापि यस्यासन्निधेर्नोत्पद्यते ज्ञानम् सन्निधेश्चोत्पद्यते इति । मनः संयोगानपेक्षस्य हीन्द्रियार्थ सन्निकर्षस्य ज्ञानहेतुत्वे युगपदुत्पद्येरन् ज्ञानानि इति ।

—*वात्स्यायन भाष्य १।१।१६*

अब इसका आशय समझिये। जिस प्रकार बाह्य प्रत्यक्ष के लिये नेत्रादि इन्द्रियाँ आवश्यक हैं, उसी प्रकार आन्तरिक प्रत्यक्ष के लिये भी किसी इन्द्रिय का होना आवश्यक है। क्योंकि इन्द्रिय रूपी कारण के विना ज्ञानरूपी कार्य नहीं हो सकता।*

अब स्मृतिज्ञान को लीजिये। यह ज्ञान नेत्रादि बाह्येन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होता। अतः इसके लिये एक इन्द्रिय विशेष की—आभ्यन्तरिक इन्द्रिय वा करण की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी। यही आभ्यन्तरिक करण वा अन्तःकरण जिसके द्वारा पूर्वानुभूत विषयों का स्मरण और वर्त्तमान सुखदुःखादि का साक्षात्कार होता है, 'मन' संज्ञक पदार्थ है।

दूसरी बात यह कि भिन्न-भिन्न इन्द्रियों और उनके विषयों के रहते हुए भी एक साथ सभी अनुभव प्राप्त नहीं होते। इससे जान पड़ता है कि ज्ञानोत्पादन में एक ऐसा सहकारी कारण है जिसकी अपेक्षा प्रत्येक इन्द्रिय को रहती है, अर्थात् जिसके संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है और जिसके अभाव में ज्ञान नहीं उत्पन्न होता। इसीलिये विषय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर कभी ज्ञान होता है, कभी नहीं। तन्मनस्क रहने पर ज्ञान होता है, अन्यमनस्क रहने पर ज्ञान नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रिय-विषय-सन्निकर्ष

* सुखादिसाक्षात्कारः करणसाध्यः जन्यसाक्षात्कारत्वात् चाक्षुषसाक्षात्कारवत् ।

ही ज्ञानोत्पादन के लिये पर्याप्त कारण-सामग्री नहीं है। उसके लिये एक निमित्तान्तर भी—जिसे 'मन' संज्ञा दी जाती है – आवश्यक है। *

मन का स्वरूप—यदि मन के माध्यम बिना ही – स्वतन्त्र रूप से इन्द्रियाँ ज्ञानोत्पादन करने में समर्थ होतीं—तो एक साथ ही अनेक ज्ञान (रूप रस गन्ध आदि के अनुभव) उत्पन्न हो जाते। किन्तु ऐसा नहीं होता। एक समय में एक ही ज्ञान होता है। ज्ञान के इस *अयौगपद्य* (Non-Simultaneity) से सूचित होता है कि प्रत्येक शरीर में एक मन रहता है। अतः **गौतम** का सूत्र है,

ज्ञानायौगपद्यात् एकं मनः

—न्या० सू० ३।२।५६

अर्थात् ज्ञानों के अयौगपद्य के आधार पर मन की एकता सूचित होती है। प्रत्येक शरीर में मन एक *अणु* के रूप में विद्यमान रहता है। जैसा **भाषापरिच्छेदकार** कहते हैं,

अयौगपद्यात् ज्ञानानां तस्याणुत्वमिहोच्यते।

इस सिद्धान्त को *मनोऽणुत्ववाद* कहते हैं।

मन की गति—यहाँ एक शंका की जा सकती है कि एक ही समय में अनेक अनुभव भी तो देखने में आते हैं। जैसे पूड़ी खाते समय एक साथ ही उसके रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का अनुभव होता रहता है। इसी प्रकार शतावधानी मनुष्य एक ही समय में सैकड़ों काम कर दिखाता है, जिससे सूचित होता है कि उसका ध्यान एक ही समय में अनेक विषयों पर बँटा रहता है।

इस शंका का समाधान करने के लिये **गौतम** यह सूत्र देते हैं,

"अलातचक्रदर्शनवत् तदुपलब्धिः आशुसञ्चारात्"

—न्या० सू० ३।२।६१

अर्थात् मन अत्यन्त ही आशुकारी है। उसकी गति विद्युत् से भी तीव्र है। वह इतनी तेजी से अपना काम करता है—इतने द्रुतवेग से भिन्न-भिन्न अनुभवों को प्राप्त करता है कि हमें *पौर्वापर्य* (Succession) का बोध न होकर *यौगपद्य* (Simultaneity) का भ्रम होने लगता है। इस बात को सूत्रकार एक दृष्टान्त के द्वारा समझाते हैं। उल्का भ्रमण के समय यह प्रतीत होता है कि अग्नि की शिखा मालाकार में एक साथ ही चारों

* आत्मेन्द्रियार्थ सन्निकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसोलिङ्गम्।

—वैशेषिक सूत्र ३।२।१

ओर विद्यमान है। किन्तु यथार्थतः अग्नि-शिखा एक साथ ही सर्वत्र विद्यमान नहीं रहती। एक क्षण में एक ही स्थान में रहती है। किन्तु उसका आवर्त्तन इतनी शीघ्रता से होता है कि हमें आनुपूर्विक क्रम परम्परा का ज्ञान न होकर यौगपद्य सा दिखलाई पड़ता है। यही बात मन के द्वारा उत्पन्न हुए अनुभवों के सम्बन्ध में भी जाननी चाहिये।

इसी बात को समझाने के लिये **सिद्धान्तमुक्तावली** में एक दूसरा दृष्टान्त दिया गया है। एक शतदल कमल को लीजिये। उसमें सौ पत्ते हैं। आप उसमें सुई पिरोकर आर-पार कर देते हैं। मालूम होता है एकबारगी सभी पत्ते एक साथ छिद गये। किन्तु क्या वास्तव में ऐसा होता है? नहीं। पूर्ववर्त्ती पत्र के उपरान्त ही परवर्त्ती पत्र की छेदन क्रिया संभव है। हाँ, वह समय का व्यवधान इतना अल्प, इतना सूक्ष्म, रहता है कि बिल्कुल जान नहीं पड़ता। इसी से यौगपद्य की भ्रान्ति हो जाती है। शष्कुलीभक्षण (पूड़ी खाना) और शतावधानवाले दृष्टान्त में भी यही बात लागू होती है। *

सारांश यह कि मन का ध्यान (Attention) एक समय में एक ही विषय पर केन्द्रीभूत (Concentrated) रह सकता है। किन्तु उसकी गति इतनी तीक्ष्ण होती है कि तरंगस्थ जलविन्दु की नाईं प्रत्येक अनुभव अपना पृथक् व्यक्तित्व खोकर धाराप्रवाह (Stream of Consciousness) में लीन होकर एकाकार बन जाता है। इस तरह अनुभवों का अनेकत्व (Variety) और पौर्वापर्य (Succession) लक्षित नहीं होकर उनमें एकता (Unity) और एकान्तता (Continuity) का आभास होता है।

---

* न च दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ नानावधानभाजां च कथमेकदानेकेन्द्रियजन्यज्ञानमिति वाच्यम्। मनसोऽतिलाघवात् झटिति नानेन्द्रियसम्बन्धान्नानाज्ञानोत्पत्तेः उत्पलशतपत्रभेदादिव यौगपद्यप्रत्ययस्य भ्रान्तत्वात्।

—सिद्धान्तमुक्तावली

संशय

[संशय की परिभाषा— संशय के प्रभेद—संशय और विपर्यय—संशय और ऊह—संशय और अनध्यवसाय—संशय का महत्त्व]

संशय की परिभाषा—संशय उस अवस्था का नाम है जिसमें मन दो वस्तुओं के बीच में दोलायमान रहता है और किसी एक का निश्चय नहीं कर पाता। मान लीजिये, आप अँधेरे में टहल रहे हैं। कुछ दूर पर मनुष्याकार कोई पदार्थ दिखलाई पड़ता है। वह वस्तु क्या है इसका निश्चयात्मक ज्ञान आपको नहीं है। हो सकता है, वह मनुष्य हो अथवा स्थाणु (ठूँठा पेड़) हो। मनुष्यत्व और स्थाणुत्व ये दोनों परस्पर विरोधी धर्म हैं जो एकसाथ उस पदार्थ (धर्मी) में नहीं रह सकते। या तो यह होगा या वह। किन्तु इन दोनों कोटियों में कौन सत्य है और कौन असत्य इसका ज्ञान उपलब्ध नहीं है। इस अवस्था में मन एक ही धर्मी (पदार्थ) में अनेक विरुद्धकोटिक धर्म आरोपित करता है। इस कारण संशय की परिभाषा यों की जाती है—

"एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धनानाकोटिकं ज्ञानं संशयः।"

—तर्कसंग्रह

उपर्युक्त उदाहरण में चित्त इन दोनों पक्षों के बीच में आन्दोलित होता रहता है—

(क) क्या यह दृश्यमान पदार्थ 'मनुष्य' है ?

(ख) अथवा मनुष्येतर वस्तु (यथा स्थाणु) है ?

इन दो विरुद्ध कोटियों के बीच में दोलायमान अनुभव ही संशय कहलाता है।

विरुद्ध कोटिद्वयावगाहि ज्ञानं संशयः।

—सर्वदर्शनसंग्रह।

संशयावस्था में किसी कोटि का निश्चय वा अवधारण नहीं हो पाता। अतएव **सर्वदर्शनसंग्रहकार** कहते हैं,

अनवधारणात्मकं ज्ञानं संशयः

जिस प्रकार हिंडोला स्थित नहीं रहता किन्तु दो दिशाओं में झूलता रहता है, उसी प्रकार संशययुक्त ज्ञान भी '*अस्ति*' और '*नास्ति*' इन दो कोटियों के बीच में डोलता रहता है। चित्त की इस दोलायमान अवस्था का ही नाम संशय है। जैसा **गुणरत्न** *षड्दर्शन समुच्चय वृत्ति में* कहते हैं,

दोलायमाना प्रतीतिः संशयः।

संशय के प्रभेद——संशय के सम्बन्ध में **गौतम** का निम्नलिखित सूत्र है—

"समानानेक धर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः।"

—न्या० सू० १।१।२३

इस सूत्र के द्वारा सूत्रकार पाँच प्रकार के संशयों का निर्देश करते हैं—

(१) समान धर्मोपपत्ति मूलक——जैसे, यह शंका कि दूरवर्त्ती पदार्थ मनुष्य है अथवा स्थाणु? यहाँ यह सन्देह उस आकार वा आयतन विशेष के कारण उत्पन्न हुआ है जो मनुष्य और स्थाणु दोनों का समान वा उभयनिष्ठ धर्म है। इसलिये यह संशय *समान धर्मोपपत्ति* मूलक है।

(२) अनेक धर्मोपपत्ति मूलक——जैसे, यह संशय कि शब्द नित्य है अथवा अनित्य? यहाँ यह सन्देह इस कारण उत्पन्न होता है कि परमाणु आदि नित्य पदार्थ और घट आदि अनित्य पदार्थ, इन दोनों में एक की भी शब्द के साथ समानधर्मता नहीं देखी जाती है। इसलिये यह संशय *अनेक धर्मोपपत्ति* मूलक है।

(३) विप्रतिपत्ति मूलक——एक ही विषय में दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का पाया जाना '*विप्रतिपत्ति*' कहलाता है।* जैसे, एक दर्शन का सिद्धान्त है कि "आत्मा है", दूसरे दर्शन का सिद्धान्त है, "आत्मा नहीं है।" ऐसा व्याघात या विरोध देखने पर संशय होता है,

आत्मा है या नहीं?

यहाँ परस्पर विरोध देखने के कारण शंका उत्पन्न होती है। अतएव यह संशय *विप्रतिपत्ति मूलक* है।

---

* व्याहतमेकार्थदर्शनं विप्रतिपत्तिः। व्याघातो विरोधो सहभाव इति।

(४) **उपलब्ध्यव्यवस्था मूलक**—इन्द्रियों के द्वारा सत्पदार्थ की भी उपलब्धि होती है (जैसे तड़ागस्थित जल की) और कभी-कभी असत् पदार्थ की भी उपलब्धि होती है (जैसे मरीचिका में आभासित जल की)। इसलिये उपलब्धि की अव्यवस्था देखकर यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि "*सामने जो जल की प्रतीति हो रही है वह सत्य है या असत्य?*"

ऐसा संशय *उपलब्ध्यव्यवस्थामूलक* कहलाता है।

(५) **अनुपलब्ध्यव्यवस्थामूलक**—मान लीजिये, आपने सुन रखा है कि सामने किसी वटवृक्ष पर प्रेत रहता है। आप इस बात का निश्चय करने के लिये वटवृक्ष के समीप जाते हैं। किन्तु वहाँ कोई प्रेत दिखलाई नहीं पड़ता। तब यह शंका उत्पन्न होती है कि "*क्या प्रेत अन्तर्हित हो जाने के कारण नहीं दिखलाई पड़ता है अथवा वह वृक्ष पर रहता ही नहीं है?* अनुपलब्धि की अव्यवस्था के कारण ऐसा संशय होता है। अतएव यह *अनुपलब्ध्यव्यवस्थामूलक* संशय कहलाता है।

वार्त्तिककार (**उद्योतकर**) अन्तिम दोनों प्रभेदों को भी प्रथम (साधारण धर्मोपपत्ति) के ही अन्तर्गत रखते हैं। अतः उनके मतानुसार संशय के केवल तीन ही प्रभेद हैं। **वैशेषिक** गण असाधारण धर्मोपपत्ति और विप्रतिपत्ति का भी साधारण धर्म में ही अन्तर्भाव करते हैं। इस प्रकार वे साधारण धर्मोपपत्ति को ही सकल संशय का मूल समझते हैं।

संशय तभी तक बना रहता है जबतक *विशेष* की उपलब्धि नहीं हो। पूर्वोक्त उदाहरण को लीजिये। यहाँ विमर्श यह है "दृश्यमान पदार्थ मनुष्य है अथवा स्थाणु?" यहाँ जबतक मनुष्यत्व का निश्चायक हस्तपादादि अवयव वा स्थाणुत्व का निश्चायक कोटरशाखादि अवयव उपलब्ध नहीं होता, तबतक इस संशय की निवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिये **सूत्रकार** कहते हैं,

"*......विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः*"

संशय और विपर्यय—विपर्यय का अर्थ है मिथ्याज्ञान। जैसे, सीप को देखकर चाँदी अथवा रज्जु को देखकर सर्प समझ लेना। * यहाँ सत् वस्तु के स्थान में असत् वस्तु की निश्चयात्मक प्रतीति हो जाती है। किन्तु संशय में यह बात नहीं होती। वहाँ सत् या असत् इन दोनों में किसी वस्तु का निश्चय नहीं होता। संशय न तो ज्ञान कहा जा सकता है न विपर्यय—यह दोनों के बीच की अवस्था है।

* मिथ्याज्ञानं विपर्ययः। यथा शुक्तौ 'इदं रजतम्' इति।

मान लीजिये, आपके समक्ष एक रज्जु (रस्सी) है। उसके सम्बन्ध में *प्रमा*, *विपर्यय* और *संशय*, ये तीनों क्रमशः इस प्रकार होंगे।

(१) दृश्यमान पदार्थ रज्जु है—(**प्रमा**)

(२) ,, ,, सर्प है (**विपर्यय**)

(३) ,, ,, रज्जु है या सर्प ? (**संशय**)

संशय और ऊह—संशयावस्था में चित्त दो कोटियों के बीच में आन्दोलित रहता है। किन्तु जब एक कोटि की तरफ चित्त विशेष रूप से आकृष्ट हो जाता है, तब दूसरी कोटि का पलड़ा हलका हो जाता है। जैसे, मध्यरात्रि में एकान्त श्मशान प्रदेश में '*स्थाणु वा मनुष्य ?*' ऐसी शंका होने पर यह स्फूर्त्ति होती है कि ऐसे स्थान में इस समय कोई मनुष्य क्यों आवेगा ? हो न हो, यह स्थाणु (ठूँठा वृक्ष) ही है। ऐसी स्फूर्त्ति को 'ऊह' कहते हैं।

संशय और ऊह में यह भेद है कि संशय में दोनों संदिग्ध कोटियाँ तुल्य होती हैं। ऊह में एक कोटि अधिक प्रबल हो जाती है।

संशय और अनध्यवसाय—स्मृति का लोप हो जाने पर कभी-कभी परिचित वस्तु को देखकर भी हमें शंका होने लगती है ? "*शायद इसको पहले कभी देखा है। शायद इसका नाम यह है।*" ऐसे अधूरे ज्ञान का नाम '**अनध्यवसाय**' है।

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि सामने से कोई परिचित वस्तु निकल गई; किन्तु अन्यमनस्कता के कारण उसका निश्चित ज्ञान नहीं होता। यह भी '*अनध्यवसाय*' है।

संशय और अनध्यवसाय में भेद है। संशय की निवृत्ति के लिये *विशेष* का अवलोकन आवश्यक है। किन्तु अनध्यवसाय की निवृत्ति *स्मृति* या *ध्यान* के द्वारा होती है।

संशय का महत्त्व—दर्शन शास्त्र में संशय का बड़ा ही महत्त्व है। विना संशय के *जिज्ञासा* नहीं होती और विना जिज्ञासा के *नवीन ज्ञान* की उपलब्धि नहीं होती। अतः कहा है—

'संशयः ज्ञानप्रयोजनः भवति'

संशय का प्रयोजन है ज्ञान की उपलब्धि। ज्ञान प्राप्त होने पर संशय की निवृत्ति हो जाती है, और फिर उसका कुछ प्रयोजन नहीं रहता।

प्रयोजन

[प्रयोजन और उसका विश्लेषण—प्रयोज्य और प्रयोजन—मुख्य और गौण प्रयोजन—दृष्ट और अदृष्ट प्रयोजन]

प्रयोजन और उसका विश्लेषण—जिस विषय को लेकर किसी कार्य में प्रवृत्ति होती है, उसे '*प्रयोजन*' कहते हैं।

गौतम कहते हैं—

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत् प्रयोजनम्।

—न्या० सू० १।१।२४

इच्छापूर्वक जो कार्य किया जाता है, उसमें प्रायः निम्नलिखित बातें पाई जाती हैं—

(क) **कार्यताज्ञान**—अर्थात् 'यह कार्य किया जाने लायक है' ऐसा ज्ञान।

(ख) **चिकीर्षा**—अर्थात् उस कार्य को करने की इच्छा।

(ग) **कृतिसाध्यताज्ञान**—अर्थात् 'यह कार्य इस प्रकार से किया जायगा'

(घ) **प्रवृत्ति**—अर्थात् उस कार्य को करने की आन्तरिक प्रेरणा।

(ङ) **चेष्टा**—अर्थात् उस कार्य को सम्पन्न करने के लिये शारीरिक क्रिया।

इस सबों के अनन्तर '**क्रिया**' का आचरण होता है।

अब प्रश्न यह है कि किसी कार्यविशेष को करने की इच्छा वा प्रवृत्ति क्यों होती है? विना प्रयोजन के किसी काम में प्रवृत्ति नहीं होती। कहा भी है—

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्त्तते।

यह प्रयोजन है क्या? किसी वस्तु-विशेष की प्राप्ति। यह अभिलषित-प्राप्ति ही '*उद्देश्य*' या '*प्रयोजन*' कहलाती है।

प्रयोज्य और प्रयोजन—भोजन पान आदि कार्यों का प्रयोजन है क्षुत्तृषादि-जन्य क्लेश की निवृत्ति वा स्वास्थ्यसुख की प्राप्ति। यहाँ भोजन क्रिया '*प्रयोज्य*' और स्वास्थ्य प्राप्ति '*प्रयोजक*' वा '*प्रयोजन*' है।

प्रयोज्य और *प्रयोजन* सापेक्ष शब्द हैं। वही क्रिया एक कार्य का प्रयोजन और दूसरे कार्य का प्रयोज्य हो सकती है। जैसे, काष्ठाग्निसंग्रह कार्य का प्रयोजन है पाकक्रिया, और पाकक्रिया का प्रयोजन है भोजन। यहाँ पाक क्रिया काष्ठाग्निसंग्रह कार्य का प्रयोजन और भोजन कार्य का प्रयोज्य है। इस तरह देखने में आता है कि कार्यमात्र का प्रयोजन कार्यान्तर होता है।

मुख्य और गौण प्रयोजन—इस प्रकार प्रयोजनों की सोपानशृङ्खला पर आरोहण करते-करते अन्ततोगत्वा एक ऐसा अन्तिम प्रयोजन उपलब्ध होगा जिसके ऊपर दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है। अर्थात् जो अपना प्रयोजन आप ही हो। ऐसा प्रयोजन **'मुख्य'** या **'चरम प्रयोजन'** (Highest End) कहलाता है। उसके नीचे और सब प्रयोजन *'गौण'* हैं।

चरम प्रयोजन क्या है? इस प्रश्न के उत्तर में प्रायः सभी दर्शन कहते हैं—**आत्यन्तिक दुःख निवृत्ति** वा **क्लेशरहित अविच्छिन्न सुख प्राप्ति**। यही जीवमात्र का अन्तिम ध्येय रहता है। इसी महत्तम उद्देश्य को **मोक्ष, मुक्ति, कैवल्य, अपवर्ग, निःश्रेयस,** आदि नाना प्रकार के नाम दिये गये हैं। इसी अन्तिम लक्ष्य पर पहुँचना **परम पुरुषार्थ** माना गया है।

मुख्य और *गौण* प्रयोजन का भेद **गदाधर** इस प्रकार बतलाते हैं—

अन्येच्छानधीनेच्छाविषयत्वं मुख्यप्रयोजनत्वम्।
अन्येच्छाधीनेच्छाविषयत्वं गौणप्रयोजनत्वम्।

—मुक्तिवाद

अर्थात् जो प्रयोजन अपने ही में पूर्ण वा स्वतन्त्र है (दूसरी इच्छा का अधीनस्थ विषय नहीं है) वही *'मुख्य प्रयोजन'* है, और जो प्रयोजन इच्छान्तरपूर्त्ति का साधन मात्र है वह *'गौण'* है।

सुखप्राप्ति का प्रयोजन क्या है? ऐसा प्रश्न नहीं किया जा सकता। क्योंकि सुखप्राप्ति का प्रयोजन सुख ही है, पदार्थान्तर नहीं। इसलिये **सुख** वा **आनन्द** (वा **क्लेश निवृत्ति**) **मुख्य प्रयोजन** माना जाता है।

दृष्ट और अदृष्ट प्रयोजन—प्रयोजन दो तरह के होते हैं—(१) **दृष्ट** और (२) **अदृष्ट**। बीजवपन का प्रयोजन है अन्नोत्पादन। यह दृष्ट वा *लौकिक* प्रयोजन है। क्योंकि यहाँ प्रयोजन की सिद्धि लोक में प्रत्यक्ष देखी जाती है। यज्ञानुष्ठान का प्रयोजन है स्वर्गप्राप्ति। यह अदृष्ट वा *अलौकिक* प्रयोजन है। क्योंकि इस लोक में स्वर्ग का प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता।

अवयव और दृष्टान्त

[पंचावयव—दस अवयव—अवयवों के सम्बन्ध में मतभेद—अवयवविषयक सिद्धान्त—अवयवों की सार्थकता—पंचावयव में प्रमाणचतुष्टय—दृष्टान्त का अर्थ—दृष्टान्त की आवश्यकता]

पंचावयव—परार्थानुमान के भिन्न-भिन्न अङ्ग-वाक्य '*अवयव*' कहलाते हैं।

परार्थानुमानवाक्यैकदेशः अवयवः

—न्या० द० सं०

ये अवयव संख्या में पाँच हैं—

(१) प्रतिज्ञा

(२) हेतु

(३) उदाहरण

(४) उपनय

(५) निगमन

इनका लक्षण और उदाहरण अनुमान के प्रकरण में किया जा चुका है। अतः यहाँ प्रत्येक की व्याख्या करना पिष्टपेषण मात्र होगा।

प्रशस्तपादाचार्य इन अवयवों के नाम क्रमशः इस प्रकार बतलाते हैं—(१) *प्रतिज्ञा* (२) *अपदेश* (३) *निदर्शन* (४) *अनुसन्धान* (५) *प्रत्याम्नाय*। **वैशेषिक** दर्शन में ये ही नाम प्रसिद्ध हैं।

दशावयव—*न्यायसूत्र* के भाष्यकार **वात्स्यायन** पंचावयव की व्याख्या करते हुए पाँच और अवयवों का नामोल्लेख करते हैं। इससे पता चलता है कि उनके पूर्व कुछ लोग अनुमान के दश अवयव मानते थे। पंचावयव के अतिरिक्त और अवयवों के नाम इस प्रकार मिलते हैं—

(१) *जिज्ञासा*—जैसे यह जानने की इच्छा कि पर्वत में अग्नि है या नहीं।

(२) *संशय*—यह सन्देह कि अनुमान के द्वारा यह बात जानी जा सकती है या नहीं।

(३) *शक्यप्राप्ति**—अर्थात् अनुमान सिद्ध हो सकता है ऐसा विश्वास।

(४) *प्रयोजन*—अर्थात् अनुमान करने का उद्देश्य।

(५) *संशय व्युदास*†—अर्थात् सभी संदेहों का दूर हो जाना। (जैसे, पर्वत पर जो धुआँ दीख रहा है वह केवल भाप मात्र तो नहीं है? ऐसे संदेहों का निराकरण।)

वात्स्यायन का मत है कि उपर्युक्त बातें ज्ञान प्राप्ति में सहायक अवश्य होती हैं, किन्तु इन्हें अनुमान का आवश्यक अंग नहीं माना जा सकता। इन्हें अनुमान का *सहचर* समझना चाहिये, *अवयव* नहीं। **अर्वाचीन नैयायिक** भी गौतमोक्त *पंचावयव* का ही अनुसरण करते हैं।

अवयवों के सम्बन्ध में मतभेद—अवयवों की संख्या को लेकर कई दर्शनों का न्याय से मतभेद है। **मीमांसा** और **वेदान्त** केवल तीन अवयव मानते हैं। उनका कहना है कि प्रतिज्ञा और निगमन में कोई भेद नहीं है। प्रतिज्ञा का पुनर्वचन ही निगमन कहलाता है। तब इस व्यर्थ पुनरुक्ति से क्या लाभ? इस तरह हेतु और उपनय भी एक ही वस्तु है। दोनों में हेतु का सम्बन्ध पक्ष के साथ दिखलाया जाता है। फिर भेद क्या रहा? जब बात एक ही है तब दो नामों की क्या आवश्यकता है? या तो हेतु रखिये या उपनय। अतएव प्रतिज्ञा और निगमन, तथा हेतु और उपनय का अभेद मानने से तीन ही अवयव रह जाते हैं—

प्रतिज्ञा (निगमन)
१ हेतु (उपनय)
३ उदाहरण

अब आप या तो

(१) **प्रतिज्ञा+हेतु+उदाहरण**

ऐसा क्रम रखिये, अथवा

(२) **उदाहरण+उपनय+निगमन**

ऐसा क्रम रखिये। बात एक ही है।

वेदान्तपरिभाषा के अनुसार अनुमान का यह रूप होना चाहिये—

१ { १ पर्वत अग्नियुक्त है (*प्रतिज्ञा*)
२ क्योंकि वह धूमयुक्त है (*हेतु*)
३ जैसे महानस (धूमयुक्त होने से अग्नियुक्त है) (*उदाहरण*) }

* पदवाक्यप्रमाणानां ज्ञानजननप्रयोजकत्वं शक्यप्राप्तिः।

† संशयव्युदासस्तर्कः।

अथवा—

२ { १ जो धूमयुक्त है सो अग्नियुक्त है जैसे महानस···(*उदाहरण*)
२ पर्वत धूमयुक्त है··· ···(*उपनय*)
३ इसलिये पर्वत अग्नियुक्त है··· ···(*निगमन*) }

क्योंकि अनुमान के लिये दो ही बातें आवश्यक हैं—(१) व्याप्ति और (२) पक्षधर्मता। (१) उदाहरण से व्याप्ति का बोध होता है। और (२) हेतु अथवा उपनय से पक्षधर्मता का बोध हो जाता है। इन्हीं दोनों के सहारे (३) प्रतिज्ञा अथवा निगमन की सिद्धि हो जाती है। फिर तीन से अधिक अवयव क्यों माने जायँ ?

अवयव विषयक सिद्धान्त—इसके उत्तर में **नैयायिकों** का कहना है कि अनुमान दो अभिप्रायों से किया जाता है—

(१) *स्वनिश्चितार्थ*— अर्थात् अपने ज्ञान के लिये।

(२) *परबोधनार्थ*—अर्थात् दूसरों को समझाने के लिये।

पहले को **'स्वार्थानुमान'** और दूसरे को **'परार्थानुमान'** कहते हैं। स्वार्थानुमान 'ज्ञानात्मक' होता है, अतएव उसके लिये केवल तीन ही अवयव पर्याप्त हैं। जैसे,

१* { पर्वत अग्नियुक्त है (*प्रतिज्ञा*)
धूमयुक्त होने के कारण (*हेतु*)
महानस के समान (*उदाहरण*) }

अथवा

२† { जो-जो धूमवान् है सो-सो अग्निमान् है, जैसे महानस (*उदाहरण*)
पर्वत धूमवान् है (*उपनय*)
इसलिये पर्वत अग्निमान् है (*निगमन*) }

* दर्शन के ग्रन्थों में प्रायः सर्वत्र इसी रूप में अनुमान पाया जाता है। न्याय ग्रन्थों में भी यही रूप मिलता है। लाघव की दृष्टि से कभी-कभी दो ही अवयव (प्रतिज्ञा और हेतु) देकर भी काम चला लेते हैं। जैसे, "पर्वतो वह्निमान्, धूमवत्त्वात्।" शेष अवयवों का अध्याहार कर लिया जाता है।

† नागार्जुन के 'उपाय कौसल्यसूत्र' में और दिङ्नागाचार्य के 'न्याय प्रवेश' में अनुमान के ऐसे रूप का विधान पाया जाता है। यह Syllogism के Barbara का अनुरूप है। केवल दृष्टान्त को लेकर भेद पड़ता है। Syllogism में Major premise का Example नहीं दिया जाता। इसलिये अगर महानस वाला दृष्टान्त हटा दिया जाय तो यह ठीक Barbara बन जायगा।

यहाँ व्याप्ति और पक्ष धर्मता के ज्ञान से ही साध्य की स्वानुमिति (Cognition) हो जाती है (अर्थात् अपने मन में निश्चय हो जाता है।) किन्तु परार्थानुमान 'शब्दात्मक' होता है। अतएव परानुमिति के लिये (दूसरे के मन में निश्चय कराने के लिये) शब्द रूपत्व (Form of Expression) होना आवश्यक है। केवल अर्थरूपत्व (Meaning) से काम नहीं चल सकता। इसीलिये पाँचों अवयव प्रयोग में लाये जाते हैं। इनमें प्रत्येक सार्थक है और अपना-अपना कार्य करता है।

इस बात को प्रमाणित करने के लिये यह दिखलाना होगा कि—

(१) *प्रतिज्ञा* और *निगमन* दो भिन्न-भिन्न अवयव हैं और दोनों की सार्थकता है।

(२) हेतु और *उपनय* में भेद है और दोनों आवश्यक हैं।

अवयवों की सार्थकता—इन अवयवों का पार्थक्य और प्रत्येक की सार्थकता **तर्कसंग्रह दीपिका** में बहुत ही स्पष्टतापूर्वक दिखलाई गई है।

(१) **प्रतिज्ञा और निगमन**—वस्तुतः एक नहीं हैं। प्रतिज्ञा प्रतिपाद्य विषय का सिर्फ *कहना* है। निगमन प्रतिपाद्य विषय का *सिद्ध करना* है।

साध्यवत्तया *पक्ष वचनं प्रतिज्ञा।*

हेतु साध्यवत्तया *पक्ष प्रतिपादकं वचनं निगमनम्।*

प्रतिज्ञात अर्थ जब *हेतु के द्वारा सिद्ध होकर प्रमाणित हो जाता है* तभी निगमन कहलाता है, अन्यथा नहीं।

प्रतिज्ञा का प्रयोजन यह है कि प्रतिपक्षी और श्रोता सब समझ जायँ कि प्रतिपादन का विषय क्या है। यदि वक्ता एकाएक हेतु वा उदाहरण से कथा का उपन्यास (प्रारम्भ) कर दे तो सब अकचका जायँगे कि यह क्या कहने जा रहा है, इसका मतलब क्या है। इसीलिये वक्ता पहले ही अपना अभिप्राय स्पष्ट रूप से जता देता है कि मैं यह सिद्ध करना चाहता हूँ।

निगमन का प्रयोजन यह दिखलाना है कि आप अपने अभीष्ट साध्य पर पहुँच गये, अपनी प्रतिज्ञा को सिद्ध कर चुके। यदि आप प्रतिज्ञा कर कहीं से कहीं बहक जायँ तो कैसे पता चलेगा कि आपने अपना प्रतिपाद्य विषय प्रमाणित किया या नहीं। इसीलिये अनुमान को आदि में प्रतिज्ञा और अन्त में निगमन से सम्पुटित कर दिया जाता है, ताकि कोई भी भाग नहीं सके। प्रतिज्ञा प्रतिपाद्य विषय का *निर्धारण* करती है; निगमन उसकी *सिद्धि* कह सुनाता है। निगमन मानों पूर्वकथित प्रतिज्ञा पर प्रमाण की मुहर, (Q. E. D. की छाप अर्थात्, जो कहा सो सिद्ध कर दिखाया) लगा देता है। अतएव

प्रतिज्ञा और निगमन, दोनों का अपना-अपना अलग स्थान और महत्त्व है। वाह्यरूप के सादृश्य से दोनों को एक समझना भूल है।

(२) **हेतु** और **उपनय** में भी भेद है। हेतु केवल यह कहता है कि पक्ष में लिंग की स्थिति है। उपनय यह बतलाता है कि पक्ष में *व्याप्तिविशिष्ट* लिंग की स्थिति है।

"व्याप्तिविशिष्ट लिंग प्रतिपादक वचनमुपनयः

—तर्कसंग्रह दीपिका

हेतु से केवल पक्षधर्मता का ज्ञान होता है। उपनय से *व्याप्तिविशिष्ट* पक्षधर्मता का ज्ञान (परामर्श) प्राप्त होता है।

हेतु के द्वारा आप यह बतलाते हैं कि "मैं अमुक कारण देकर अपनी प्रतिज्ञा सिद्ध करता हूँ।" उपनय के द्वारा आप यह बतलाते हैं कि "उस कारण का व्यापार (कार्य) ऐसा होता है।" अतएव हेतु और उपनय दोनों भिन्न-भिन्न अवयव हैं और दोनों की अपनी-अपनी जगह में आवश्यकता है।

पंचावयव में प्रमाणचतुष्टय—पंचावयव के पक्ष में **वात्स्यायन** एक विलक्षण युक्ति देते हैं। उनका कहना है कि पंचावयव में चारों प्रमाण आ जाते हैं।

" आगमः प्रतिज्ञा। हेतुरनुमानम्। उदाहरणं प्रत्यक्षम्।
उपनयनमुपमानम्। सर्वेषामेकार्थसमवाये सामर्थ्य—
प्रदर्शनं निगमनमिति। सोऽयं परमो न्याय इति ॥"

(वात्स्यायन भाष्य १।१।१)

इसको यों समझिये। आप कहते हैं—

१ *पर्वत अग्निमान् है* (**प्रतिज्ञा**)
यह **शब्द** प्रमाण हुआ।

२ *क्योंकि पर्वत धूमवान् है*.........(**हेतु**)
यह **अनुमान** प्रमाण हुआ।

३ *जो धूमवान् है सो अग्निमान् भी होता है,*
जसे महानस.........(**उदाहरण**)
यह **प्रत्यक्ष** प्रमाण हुआ।

४ *इसी प्रकार (धूमवान्) यह पर्वत भी है*...........(**उपनय**)
यह **उपमान** प्रमाण हुआ।

इस तरह चारों प्रकार के प्रमाण आ गये। इस प्रमाण-चतुष्टय का सम्मेलन होने से जो फल (निष्कर्ष) निकलता है, वही 'निगमन' कहलाता है। इसलिये निगमन को **परम न्याय** (अन्तिम निष्पत्ति) कहते हैं।

दृष्टान्त का अर्थ—दृष्टान्त का अर्थ है।

दृष्टोऽन्तो निश्चयो येन स दृष्टान्तः

जिसको देखने से किसी बात का निश्चय हो जाय, उसे **'दृष्टान्त'** कहते हैं।

गौतम कहते हैं,

लौकिक परीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः

जिस विषय में लौकिक और परीक्षक दोनों का एक मत हो, वह *दृष्टान्त* कहलाता है।

लौकिक व्यक्ति साधारण बुद्धि के अनुसार विषय को जैसा देखता है, वैसा ही मान लेता है। किन्तु परीक्षक तर्क-प्रमाणादि द्वारा उसकी अच्छी तरह छानबीन कर तत्त्वों का अनुसन्धान करता है। इस प्रकार लौकिक और परीक्षक के दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न होते हैं। किन्तु दृष्टान्त को दोनों ही मानते हैं। उस विषय में किसी का मतभेद नहीं पाया जाता। इसलिये **भाष्यकार** कहते हैं,

यत्र लौकिक परीक्षकाणां दर्शनं न व्याहन्यते स दृष्टान्तः।

सर्वदर्शन संग्रहकार कहते हैं—

व्याप्तिसंवेदन भूमिः दृष्टान्तः

व्याप्ति सम्बन्ध का ज्ञान जिसके आधार पर होता है वही 'दृष्टान्त' है। जैसे, धूम और अग्नि में जो व्याप्ति सम्बन्ध है, वह कैसे जाना जाता है? दोनों का साहचर्य देखने से। यह साहचर्य कहाँ-कहाँ पाया जाता है? रसोई घर, यज्ञशाला इत्यादि में। ऐसे-ही-ऐसे स्थान उस व्याप्ति के आधार स्थल हैं। अतः ये दृष्टान्त या उदाहरण कहे जाते हैं।

दृष्टान्त के प्रभेद—दृष्टान्त दो तरह के होते हैं—(१) **साधर्म्य दृष्टान्त** और (२) **वैधर्म्य दृष्टान्त**। *अन्वय* का उदाहरण 'साधर्म्य दृष्टान्त' कहलाता है। जैसे, रसोई घर में धूम और अग्नि का साहचर्य भाव। यह *साधर्म्य दृष्टान्त* है। *व्यतिरेक* का उदाहरण 'वैधर्म्य दृष्टान्त' कहलाता है। जैसे, जलाशय में धूम और अग्नि दोनों का अभाव है। यह '*वैधर्म्य दृष्टान्त*' है।

दृष्टान्त की आवश्यकता—उदाहरण को लेकर **जैनदर्शनकारों** ने कुछ टीका टिप्पणी की है। **दिङ्नागाचार्य** अन्वय (Positive) और व्यतिरेक (Negative) दोनों प्रकार के दृष्टान्त देना आवश्यक समझते हैं। यथा—

'जहाँ-जहाँ धूम है तहाँ-तहाँ अग्नि है'

जैसे महानस में अग्नि है (Positive Instance)

और झील में अग्नि नहीं है (Negative Instance)

इसके विपरीत **धर्मकीर्त्ति** अपने *न्यायविन्दु* में एक भी दृष्टान्त देना आवश्यक नहीं समझते। उनके अनुसार

"जहाँ-जहाँ धूम है तहाँ-तहाँ अग्नि है।"

यह व्याप्तिबोधक वाक्य ही पर्याप्त है। इसीमें सब उदाहरण अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। अतएव महानस या झील का दृष्टान्त देना बिल्कुल व्यर्थ है।

उद्योतकर तथा **प्रशस्तपाद** प्रभृति आचार्यों ने उदाहरण की सार्थकता सिद्ध करने की चेष्टा है। न्यायशास्त्र विना उदाहरण के किसी व्याप्ति को ग्रहण नहीं करता। इसका कारण यह है कि यदि उदाहरण का बन्धन नहीं रहे तो कोई बिल्कुल असत्य व्याप्ति के बल पर भी अपना पक्ष सिद्ध कर ले सकता है। जैसे, "देवदत्त सिर के बल चलता है क्योंकि वह मनुष्य है।" यहाँ इस मिथ्या व्याप्ति सम्बन्ध की कल्पना की गई है कि—*जो-जो मनुष्य है सो सिर के बल चलता है*। **पाश्चात्य** Formal Logic इस अनुमान को चुपचाप ग्रहण कर लेगा। किन्तु न्याय इसको ग्रहण नहीं करेगा। **प्राच्य तर्कशास्त्र** में Purely Formal Reasoning नाम की कोई चीज ही नहीं मानी जाती। यहाँ जो अनुमान है वह सब Formal, Material दोनों है। अतएव नैयायिक ऐसी व्याप्ति की कल्पना सुनते ही चट पूछ बैठेगा—"अच्छा बताओ, तुम्हारा दृष्टान्त क्या है?" अब जो बिल्कुल असत्य बात है उसका दृष्टान्त कहाँ से दिया जायगा? बस, एक भी गवाह नहीं मिलने से मुकदमा तुरत खारिज हो जाता है।

अब बात रही दो दृष्टान्त देने की। इसको नैयायिक आवश्यक नहीं समझते। दृष्टान्त का कार्य है व्याप्ति का सम्बन्ध *दिखलाना* न कि उसे *सिद्ध करना*। यदि दृष्टान्त का कार्य व्याप्ति को सिद्ध करना मान लिया जाय तो केवल दो दृष्टान्तों से भी तो काम नहीं चल सकता है। क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक का एक-एक दृष्टान्त देकर कहा जा सकता है कि "जहाँ-जहाँ पानी रहता है तहाँ-तहाँ मेंढ़क रहता है। जैसे तालाब में पानी है तो मेढ़क भी है। (*अन्वय*) और रमेश की टोपी में मेढ़क नहीं है तो पानी भी नहीं है (*व्यतिरेक*)।" किन्तु इतने ही से व्याप्ति की सिद्धि तो नहीं हो जाती।* इसलिये यदि एक दृष्टान्त अपर्याप्त है तो दो भी अपर्याप्त हैं। लेकिन दृष्टान्त जो दिया जाता है सो व्याप्ति को प्रमाणित करने के अभिप्राय से नहीं, वरन उसे प्रदर्शित करने के अभिप्राय से। इसलिये जैसे दो वैसे एक। अतः लाघव के विचार से एक ही दृष्टान्त दिया जाता है।

* व्याप्ति की सिद्धि कैसे होती है इसके लिये व्याप्ति का अध्याय देखिये।

सिद्धान्त

[सिद्धान्त का लक्षण— सर्वतन्त्रसिद्धान्त— प्रतितन्त्रसिद्धान्त—अधिकरणसिद्धान्त—अभ्युपगमसिद्धान्त]

सिद्धान्त का लक्षण—सिद्धान्त का अर्थ है,

सिद्धः अन्तः येन स सिद्धान्तः

जिसके द्वारा किसी विवादास्पद विषय का अन्त वा समापन हो जाय, उसीका नाम है '*सिद्धान्त*'।

सिद्धस्य संस्थितिः सिद्धान्तः

कोई विषय प्रमाण द्वारा सिद्ध या स्थापित हो जाने पर 'सिद्धान्त' कहलाता है।

गौतम कहते हैं—

तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः

—न्या० सू० १।१।२६

अर्थात् तन्त्र, अधिकरण वा अभ्युपगम के सहारे ही सिद्धान्त स्थापित होता है। इस बात का स्पष्टीकरण आगे किया जाता है।

सिद्धान्त चार प्रकार के होते हैं*—(१) **सर्वतन्त्र** (२) **प्रतितन्त्र** (३) **अधिकरण** और (४) **अभ्युपगम**।

(१) सर्वतन्त्र सिद्धान्त—

सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रोऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः

—न्या० सू० १।१।२८

यहाँ तन्त्र शब्द का अर्थ है *शास्त्र*। इसलिये सर्वतन्त्र सिद्धान्त का अर्थ हुआ *सर्व-शास्त्रसम्मत सिद्धान्त*। जिस सिद्धान्त को सभी मानते हों, जिसके विषय में किसीका मतभेद नहीं हो, वह *सर्वतन्त्र सिद्धान्त* है। जैसे, '*इन्द्रियों के द्वारा विषय-ग्रहण होता है*'। यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है।

---

* अभ्युपेतः प्रमाणैः स्याद्भिमानिक सिद्धिभिः। सिद्धान्तः सर्वतन्त्रादिभेदात् स च चतुर्विधः ॥

— तार्किकरक्षा

(२) प्रतितन्त्र सिद्धान्त--

समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः

--न्या० सू० १।१।२६

जो सिद्धान्त सर्वसम्मत नहीं हो, जिसको कुछ शास्त्र मानें और कुछ शास्त्र नहीं मानें, वह '*प्रतितन्त्र सिद्धान्त*' कहलाता है। जैसे, **शब्दानित्यत्ववाद** (अर्थात् शब्द अनित्य है)। यह **नैयायिकों** का सिद्धान्त है, किन्तु **मीमांसक** इसे नहीं मानते। अतः यह प्रतितन्त्र सिद्धान्त है।

(३) अधिकरण सिद्धान्त--

यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः

—न्या० सू० १।१।३०

जिस सिद्धान्त को मान लेने पर कतिपय अधीनस्थ विषयान्तर भी आप-ही-आप स्वीकृत हो जाते हैं, उसे '*अधिकरण सिद्धान्त*' कहते हैं। जैसे, **पुनर्जन्मवाद** मानने पर **आत्मा का अस्तित्व** और उसका शरीर से पार्थक्य आप-ही-आप प्रतिपन्न हो जाता है।

(४) अभ्युपगम सिद्धान्त—

अपरीक्षिताभ्युपगमात्तद्विशेषपरीक्षणम् अभ्युपगमसिद्धान्तः

—न्या० सू० १।१।३१

किसी अपरीक्षित वस्तु को विचारार्थ थोड़ी देर के लिये स्वीकार कर लेना '*अभ्युपगम*' (Assumption) कहलाता है। पुनः परीक्षानन्तर जिस सिद्धान्त पर पहुँचा जाता है, वह '*अभ्युपगम सिद्धान्त*' कहलाता है।

जैसे, **चार्वाक** प्रभृति **लोकायत** मतवालों का कहना है कि पुनर्जन्म नहीं होता। अब **नैयायिक** कहते हैं "अच्छा, थोड़ी देर के लिये मान लिया कि पुनर्जन्म नहीं होता, शरीर के भस्मीभूत होते हुए ही सब कुछ निःशेष हो जाता है। तब इस जन्म में किये हुए कर्मों का फल कौन भोगता है ? और यदि कर्म का फल नहीं मिलता तो क्या पाप-पुण्य, बन्धन, मोक्ष ये सब कपोलकल्पित हैं ? और यदि ये सब कल्पित हैं तो क्या उनके प्रतिपादक वेद धर्मशास्त्रादि सभी झूठे हैं ? किन्तु ये सब आप्त वचन होने के कारण प्रामाणिक हैं, उनमें मिथ्यात्व का आरोपण नहीं किया जा सकता। अतएव पुनर्जन्म का सिद्धान्त मानना ही पड़ेगा। इस प्रकारके सिद्धान्त को **अभ्युपगम सिद्धान्त** (Reductio ad absurdum) कहते हैं।

तर्क और निर्णय

[तर्क की परिभाषा—तर्क का स्वरूप—गौतमोक्त तर्कप्रणाली प्रमाणबाधितार्थप्रसङ्ग—तर्कानुगतप्रभेद—आत्माश्रय, अन्योन्याश्रय, चक्रक, अनवस्था)—निर्णय]

तर्क की परिभाषा—तर्क की परिभाषा यों की जाती है—

व्याप्यारोपेणव्याप्यकारोपस्तर्कः

अर्थात् *व्याप्य* के आरोप द्वारा *व्यापक* का आरोप करना तर्क है।

अब इसका भाव समझिये। आप देखते हैं, पहाड़ पर धुआँ उठ रहा है। यह देखकर आप मन में तर्क करते हैं,

" यद्यत्राग्न्यभावः स्यात् तर्हि धूमाभावः स्यात् "

यदि यहाँ अग्नि का अभाव रहता तब तो धूम का भी अभाव होता।

जहाँ-जहाँ अग्नि का अभाव होता है, तहाँ-तहाँ धूम का भी अभाव होता है। इसलिये अग्न्यभाव और धूमाभाव में *व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध* है। अर्थात् अग्न्यभाव व्याप्य और धूमाभाव व्यापक है। यहाँ अग्न्यभाव (व्याप्य) के आरोपण से धूमाभाव (व्यापक) भी आरोपित हो जाता है, जो प्रत्यक्षविरुद्ध है। इसलिये व्याप्य का आरोपण (अग्न्यभाव) मिथ्या सिद्ध होता है। इस तरह अग्न्यभाव का मिथ्यात्व सिद्ध होने से उसका प्रतिकूल यानी अग्नि का भाव सूचित होता है। यही तर्क या Indirect proof है।

तार्किकरक्षा में तर्क के उपर्युक्त समस्त अङ्ग इस प्रकार गिनाये गये हैं—

व्याप्तिस्तर्काप्रतिहतिरवसानं विपर्यये।

अनिष्टाननुकूलत्वमिति तर्काङ्गपञ्चकम्।

तर्क का स्वरूप—नैयायिक गण तर्क को स्वतन्त्र प्रमाण की कोटि में नहीं गिनते। क्योंकि यह स्वतः प्रमा या निश्चितार्थज्ञान का कारण नहीं होता। सहायक वा अनुग्राहक अवश्य होता है। इसीलिये कहा गया है,

प्रमानुग्राहकस्तर्कः

पूर्वोक्त उदाहरण में जो तर्क दिखलाया गया है, वह पर्वत पर अग्नि होने के अनुमान में प्रबल सहायक है। *

तर्क का काम यही है कि वह विपक्षी की कल्पना को निर्मूल कर देता है। इस तरह स्वपक्ष को प्रबल करने का नाम '*अनुग्रह*' है।

पक्षे विपक्षजिज्ञासाविच्छेदस्तदुनग्रहः।

अतएव *तर्क* प्रमाण का अनुग्राहक कहा जाता है।

गौतमोक्त तर्कप्रणाली—गौतम तर्क की परिभाषा यों कहते हैं—

अविज्ञात तत्त्वेऽर्थेकारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थ मूहस्तर्कः। गौ० सू० १।१।४०

अर्थात् जिस विषय का तत्त्वज्ञान उपलब्ध नहीं है, उस विषय का तत्त्वज्ञान (यथार्थ ज्ञान) प्राप्त करने के लिये कारण की उपपत्ति करते हुए एक पक्ष की सम्भावना (ऊह) का नाम *तर्क* है।

जिस वस्तु का तत्त्वज्ञान नहीं है, उसका तत्त्व जानने की इच्छा स्वभावतः उत्पन्न होती है। इस इच्छा को *जिज्ञासा* कहते हैं। जिज्ञासा उत्पन्न होने पर प्रश्न उठता है—"इसका कारण यह है अथवा वह ?" अब दो भिन्न-भिन्न पक्ष उपस्थित होते हैं। दोनों में कौन-सा सत्य है, यह सन्देह उत्पन्न होता है इसे '*संशय*' या '*विमर्श*' कहते हैं।

अब इस शंका का समाधान कैसे हो ? दो परस्पर - विरोधी धर्म तो एक साथ रह नहीं सकते। दोनों में एक का परित्याग कर दूसरे का ग्रहण करना होगा। किन्तु दोनों में यथार्थ धर्म कौन-सा है यह कैसे जाना जायगा ?

ऐसी ही संशयावस्था में '*तर्क*' का प्रयोजन होता है। संदिग्ध पक्षों में जिस ओर कारण की उपपत्ति देखने में आती है, उसी की संभावना मानी जाती है। इसी *संभावना* अथवा '*अनुज्ञा*' को **तर्क** कहते हैं।

एक दृष्टान्त से यह बात भली भाँति समझ में आ जायगी। मान लीजिये, आत्मा के सम्बन्ध में जिज्ञासा है। प्रश्न यह है कि—आत्मा की उत्पत्ति होती है या नहीं ? यहाँ दो परस्पर विरोधी धर्म हैं—(१) *उत्पत्ति धर्म* और (२) *अनुत्पत्ति धर्म*। इन दोनों में कौन सा सत्य है ? यही संशय वा विमर्श है।

---

* जैसा तर्कभाषाकार कहते हैं— "तथा हि पर्वतोऽयं साग्निः उतानग्निः इति सन्देहानन्तरं यदि कश्चिन्मन्यते अनग्निरिति तदा तं प्रति 'यद्ययमनग्निरभविष्यत्तर्हि धूमवान्नाभविष्यत् इत्यवह्निमत्त्वे नाधूमवत्त्व प्रसञ्जनं क्रियते। स चानिष्ट प्रसंगः तर्क उच्यते। एवं प्रवृत्तः तर्कः अनग्निमत्त्वस्य प्रतिक्षेपात् अनुमानस्य भवत्यनुग्राहक इति।"

इसी संदेहावस्था में तर्क आकर हमारी सहायता करता है। वह देखता है कि दोनों में किस पक्ष की संभावना है।

मान लीजिये आत्मा उत्पत्तिधर्मक है। अर्थात् नवीन शरीर के साथ नवीन आत्मा की भी उत्पत्ति होती है। किन्तु ऐसा मानने से यह प्रश्न उठेगा कि इन दोनों में (शरीर-और आत्मा में) सम्बन्ध किस कारण से होता है? यदि यह कहिये कि, "पूर्व कर्म के फल से" तो यह युक्ति असंगत है; क्योंकि आत्मा का अस्तित्व शरीर के पूर्व तो आप मानते ही नहीं। फिर उसका पूर्व कर्म कैसे संभव होगा? और जब पूर्व कर्म नहीं है तब आत्मा को सुख या या दुःख का भोग क्यों करना पड़ता है? सुख और दुःख कर्म ही के तो फल हैं। जब आत्मा का पूर्वार्जित कर्म ही नहीं है, तब उसे सुख दुःख की प्राप्ति भी नहीं होनी चाहिये। क्योंकि विना कारण के कार्य नहीं होता। परन्तु यह प्रत्यक्ष देखने में आता है कि आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध होते ही नाना प्रकार के सुख दुःख उसे भोगने पड़ते हैं। यदि आत्मा उत्पत्ति धर्मक होता तो उसको पूर्वसंस्कार नहीं रहता और पूर्व संस्कार के अभाव में सुख-दुःख का भी भोग नहीं करना पड़ता।

इस तर्कप्रणाली के अनुसार हम इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि—

"आत्मा अनुत्पत्ति धर्मक है"

प्रमाणबाधितार्थ प्रसङ्ग—उपर्युक्त तर्क प्रणाली को **नैयायिक** लोग *'प्रमाण-बाधितार्थ प्रसङ्ग'* कहा करते हैं। पाश्चात्य देशों में यह Reductio ad absurdum के नाम से प्रख्यात है। दो हजार वर्ष पहले यूनान के प्रसिद्ध विद्वान् **यूक्लिड** ने इसी तर्क-प्रणाली के द्वारा रेखागणित के कई साध्यों को सिद्ध किया है। जहाँ सीधा प्रमाण (Direct Proof) नहीं मिलता वहाँ इसी तर्क पद्धति का आश्रय लिया जाता है। किसी विषय को प्रतिपादित करने के दो मार्ग होते हैं—

(१) एक तो अपने पक्ष को लेकर युक्तियों के द्वारा उसकी पुष्टि करना।

(२) दूसरे, अपने से प्रतिकूल पक्ष को लेकर उसकी असारता दिखलाना।

उपर्युक्त तर्क में दूसरी पद्धति (Reductio ad absurdum) का अवलम्बन किया गया है। अर्थात् प्रतिकूल पक्ष की असंभाव्यता दिखला कर प्रकारान्तर से अपना पक्ष स्थापित किया गया है।

इस प्रकार जिस सिद्धान्त पर पहुँचा जाता है, वह *'अभ्युपगम सिद्धान्त'* कहलाता है।*

* देखिये सिद्धान्त का प्रकरण।

तर्कानुगत भेद—नवीन नैयायिक तर्क के अन्तर्गत ये पाँच प्रभेद मानते हैं—(१) *प्रमाणबाधितार्थ प्रसंग*, (२) *आत्माश्रय*, (३) *अन्योन्याश्रय*, (४) *चक्रकाश्रय* और (५) *अनवस्था*। इनमें प्रथमोक्त भेद (प्रमाणबाधितार्थ प्रसंग) ही मुख्य और प्रामाणिक है। इसका वर्णन पहले ही हो चुका है। शेष चारों तर्क सदोष समझे जाते हैं। इनका परिचय यहाँ दिया जाता है।

(१) आत्माश्रय—

स्वापेक्षापादकोऽनिष्ट प्रसङ्गः आत्माश्रयः

जिस प्रसंग में अपनी ही अपेक्षा आ पड़ती है, उसे '*आत्माश्रय*' कहते हैं।

जैसे, "यदि पृथ्वी गन्धवती नहीं रहती तो उसमें गन्ध कैसे आता ?"

यहाँ गन्धवत्ता अपनी सिद्धि के लिये स्वयं अपनी (गन्ध की) अपेक्षा रखता है। अतएव यह **आत्माश्रय दोष** (*Petitio Principi*) हुआ।

(२) अन्योन्याश्रय—

स्वापेक्षापेक्षितत्वनिबन्धनोऽनिष्ट प्रसङ्गः अन्योन्याश्रयः

जिस प्रसंग में दो पदार्थ एक दूसरे की अपेक्षा वा सहायता पर अवलम्बित हों, वहाँ '*अन्योन्याश्रय*' जानना चाहिये।

जैसे, "यदि वेद नहीं रहता तो ईश्वर का प्रमाण कैसे होता ? और यदि ईश्वर नहीं रहता तो वेद का प्रमाण कैसे होता ?"

यहाँ वेद और ईश्वर दोनों की सिद्धि परस्परसापेक्ष है। अतः **अन्योन्याश्रय** दोष (Mutual Dependence) जानना चाहिये।

(३) चक्रक—

स्वापेक्षणीयापेक्षितसापेक्षत्व निबन्धनोऽनिष्टप्रसङ्गश्चक्रकम्।

जिस प्रसंग में अनेक पदार्थ परस्पर सापेक्ष भाव से चक्राकार अवलम्बित हों, उसे 'चक्रक' (Circular Reasoning) कहते हैं।

मान लीजिये। देवदत्त सोया हुआ है। कोई शब्द सुनकर वह जाग पड़ता है। यहाँ यदि कोई इस प्रकार तर्क करे कि—

" यदि देवदत्त को शब्द श्रवण नहीं होता तो जागृति कैसे होती ?

" यदि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष नहीं होता तो शब्द श्रवण कैसे होता ?

" यदि जागृति नहीं रहती तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष कैसे होता ?"

तो यह 'चक्रक' का उदाहरण होगा। क्योंकि यहाँ जागृति श्रवण पर, श्रवण इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष पर, और इन्द्रियार्थसन्निकर्ष पुनः जागृति पर निर्भर करता है।

इस प्रकार यों चक्र (Circle) बन जाता है।
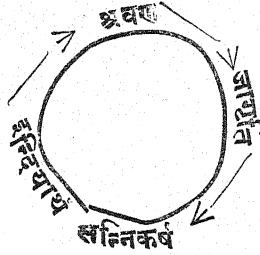
(४) अनवस्था—

अव्यवस्थितपरम्परारोपाधीनानिष्टप्रसङ्गः अनवस्था।

जिस प्रसंग में परम्परा का आरोपण करते-करते कहीं विराम का अन्त न होने पावे, उसे 'अनवस्था' कहते हैं। पाश्चात्य तर्कशास्त्र में इसे *Regressum ad infinitum* वा *Infinite Regress* कहते हैं।

एक उदाहरण लीजिये।

"यदि इस वृक्ष का कारण बीज नहीं होता, तो यह वृक्ष कहाँ से आता ?

'यदि उस बीज का कारण वृक्ष (२) नहीं होता, तो वह बीज कहाँ से आता ?

"यदि उस वृक्ष (२) का कारण बीज (२) नहीं होता, तो वह वृक्ष कहाँ से आता ?

"यदि उस बीज (२) का कारण वृक्ष (३) नहीं होता, तो वह बीज कहाँ से आता ?

× × × ×

इस प्रकार बढ़े चले जाइये। इस सिलसिले का कहीं अन्त नहीं होगा। इस तरह के तर्क से किसी पक्ष की व्यवस्था वा सिद्धि नहीं हो सकती। अतः इसे *'अनवस्था'* दोष कहते हैं।

प्राचीन नैयायिक इन पंचविध प्रभेदों के अतिरिक्त और भी छः प्रभेद बतलाते हैं। वे हैं—

(१) **व्याघात** (Contradiction)—जैसे, यह कहना कि "मैं मूक हूँ।" इसे *'वदतोव्याघात'* (Self-contradiction) कहते हैं।

(२) **प्रतिबन्धिकल्पना**—(Opposite hypothesis)

(३) **कल्पनालाघव**—(Inadequate hypothesis)

(४) **कल्पनागौरव**—(Redundant hyptohesis)

(५) **उत्सर्ग**—सामान्य नियम (General Rule)

(६) **अपवाद**—विशेष नियम (Exception)

इस प्रकार तर्क के एकादश प्रभेद हो जाते हैं। किन्तु आधुनिक नैयायिक इन्हें तर्क की कोटि में परिगणित नहीं करते।

निर्णय— संशय वा विमर्श होने पर दोनों पक्षों को तौलकर जिस निश्चय पर पहुँचा जाता है, वह *निर्णय* (Ascertainment) कहलाता है। **गौतम** कहते हैं—

विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः

—न्या० सू० १।१।४१

दो परस्पर विरोधी पक्षों में एक पक्ष अवश्य ही असत्य होगा। एक के प्रतिषेध से दूसरे की स्थापना अवश्यम्भावी है। खण्डित पक्ष का परित्याग और अबाधित पक्ष का ग्रहण कराना ही प्रमाणशास्त्र का प्रयोजन है। जिस पक्ष की प्रमाण द्वारा सिद्धि होती है, उसीका अवधारण वा निश्चितार्थज्ञान '*निर्णय*' कहलाता है। अतः **भाष्यकार** उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं।

[स्थापना साधनम्। प्रतिषेध उपालम्भः। तौ साधनोपालम्भौ पक्षप्रतिपक्षाश्रयौ व्यतिषक्तावनुबन्धेन प्रवर्त्तमानौ पक्षप्रतिपक्षावित्युच्येते] तयोरन्यतरस्य निवृत्तिरेकतरस्यावस्थानमवश्यम्भावि। यस्यावस्थानं तस्यावधारणं निर्णयः।

जहाँ दोनों पक्ष समान रूप से मौजूद रहते हैं, वहाँ निर्णय किस प्रकार किया जाता है? किसी विशेष पदार्थ के अवलम्बन से। एक दृष्टान्त लीजिये। अँधेरे में यह संशय हो रहा है कि दूरवर्त्ती वस्तु *मनुष्य* है अथवा *स्थाणु* (ठूँठा वृक्ष)? अब इस सन्देह का निराकरण तबतक नहीं हो सकता जबतक आपको कोई विशेष चिह्न न दिखलाई पड़े। यदि आपको उसमें सिर या हाथ दिखाई पड़ जाय तो तुरत निश्चय हो जायगा कि वह मनुष्य है।* यहाँ निश्चायक वस्तु क्या है? *अवयव विशेष का दर्शन*। यही निर्णय का साधन (Crucial Instance) है। इसीके द्वारा निश्चितार्थ का अवधारण (ज्ञान) होकर संशय दूर हो जाता है। अतः निर्णय की परिभाषा इस प्रकार भी की जाती है—

---

* स्थाणुपुरुषयोरूर्द्ध्वता मात्रसादृश्यालोचनाद्विशेषेषु प्रत्यक्षेषु भयविशेषानुस्मरणात् किमयं स्थाणुः पुरुषो वा इति संशयोत्पत्तौ शिरःपाण्यादिदर्शनात् पुरुष एवायम् इत्यवधारणज्ञानं प्रत्यक्षनिर्णयः।

—प्रशस्तपादभाष्य

निर्णयो विशेषदर्शनजमवधारणं संशयविरोधि

प्रमाणों के द्वारा अर्थ (पदार्थ) का अवधारण (निश्चय) ही *निर्णय* है। बल्कि यों कहिये कि निर्णय पर पहुँचने के लिये ही तर्क और प्रमाण का अवलम्बन किया जाता है। जैसा **वात्स्यायन** कहते हैं—

निर्णयस्तत्त्वज्ञानं प्रमाणानां फलम्।

अर्थात् *निर्णय रूपी तत्त्वज्ञान ही प्रमाणों का फल है।*

वाद, जल्प और वितण्डा

[कथा—वाद—जल्प—वितण्डा]

कथा—जब किसी विषय का अवलम्बन कर वाद-प्रतिवाद किया जाता है, तब उसे '**कथा**' (अथवा शास्त्रार्थ) कहते हैं। कथा का प्रसङ्ग तभी आता है, जब प्रस्तुत विषय सन्दिग्ध हो। यदि वह निर्विवाद रहता तब फिर विवाद की आवश्यकता ही क्या रहती? इसलिये संशय (अर्थात् निश्चित ज्ञान की अनुपलब्धि) रहने पर ही शास्त्रार्थ का प्रयोजन होता है। और उस संशय की निवृत्ति करना ही कथा का उद्देश्य है।

शास्त्रार्थ (कथा) के लिये कम से कम दो व्यक्तियों का होना जरूरी है। पर यदि दोनों ही व्यक्ति एक ही बात कहने लगें तो विवाद नहीं चल सकता। इसलिये यह भी आवश्यक है कि दोनों *विरुद्ध* बातें करें। अब मान लीजिये, एक व्यक्ति कहता है "*बुद्धि अनित्य है*" और दूसरा कहता है "*आकाश नित्य है*।" यहाँ एक नित्यता धर्म का प्रतिपादन करता है, दूसरा उसके विरोधी धर्म (अनित्यता) का। किन्तु तो भी एक की बात से दूसरे का विरोध नहीं होता। क्योंकि यहाँ दोनों विरोधी धर्मों के आधार भिन्न-भिन्न हैं, अतएव दोनों ही (धर्म) अपने-अपने अधिकरण में ठीक हो सकते हैं। इसलिये यहाँ दोनों पक्ष भिन्न-भिन्न हैं, *परस्पर विरुद्ध* नहीं और विवाद के लिये यह आवश्यक है कि दो परस्पर विरुद्ध पक्ष (पक्ष और *प्रतिपक्ष*) रहें। यह तभी हो सकता है जब *वादी* और *प्रतिवादी* दोनों एक ही आधार (पक्ष) में दो परस्पर विरुद्ध धर्मों को आरोपित करें। जैसे एक कहता है—'*शब्द अनित्य है*।' दूसरा कहता है—'*शब्द नित्य है*।'

यहाँ एक ही आधार अथवा पक्ष में (जैसे शब्द में) वादी एक धर्म (*अनित्यता*) आरोपित करता है, और प्रतिवादी उससे विरुद्ध धर्म (*नित्यता*) आरोपित करता है। इन्हीं को क्रमशः '*पक्ष*' और '*प्रतिपक्ष*' कहते हैं। इन्हीं से कथा का '*प्रकरण*' (अवसर) बनता है। जिस विषय को लेकर विवाद किया जाता है, उसे '*कथावस्तु*' कहते हैं। कथा का अधिकारी विद्वान् ही हो सकता है। जो प्रतिपक्षी की बात को सुन और समझ सके, उसका उत्तर

देने की क्षमता रखे, योग्यतापूर्वक अपने मत का समर्थन कर सके और समीचीन रीति से किसी निर्णय पर पहुँचने की इच्छा रखे, उसे ही शास्त्रार्थ का अधिकारी समझना चाहिये।

शास्त्रार्थ करने की परिपाटी बहुत ही प्राचीन काल से चली आती है। तार्किकों की शास्त्रार्थ-प्रणाली बिल्कुल शृङ्खलावद्ध और क्रमपूर्ण होती है। यहाँ न्यायसम्मत शास्त्रार्थ विधि का दिग्दर्शन कराया जाता है।

शास्त्रार्थ के लिये विद्वानों की परिषद् (सभा) बैठती है। उसमें बहुधा दर्शक जनता भी उपस्थित रहती है। सभा में जो सबसे विशिष्ट व्यक्ति समझा जाता है (जैसे राजा या भारी पंडित) वह नेता (सभापति) बनाया जाता है। जय-पराजय का निर्णय करने के लिये, जो सबसे अधिकारी विद्वान् समझा जाता है, वह *मध्यस्थ* (विचारक) चुना जाता है। विचारकों की संख्या अधिक भी रह सकती है। उनका माध्यस्थ्य (पंचायत) वादी प्रतिवादी दोनों को स्वीकार करनी पड़ती है। कभी-कभी हार-जीत का फैसला समूची सभा (परिषद्) पर ही छोड़ दिया जाता है।

अब वादी और प्रतिवादी दोनों आमने-सामने बैठ जाते हैं। सबसे पहले वादी अपने पक्ष का आरम्भ करता है। इसको '*कथामुख*' अथवा '*उपन्यास*' कहते हैं। वादी अपनी प्रतिज्ञा (साध्य) सुनाकर प्रमाण के द्वारा उसका मण्डन (समर्थन) करता है। फिर अपने पक्ष में जो-जो शंकाएँ की जा सकती हैं उनकी कल्पना करते हुए सबका समाधान कर जाता है। इस तरह वह अपना पक्षस्थापन करता है। इसको '*पूर्वपक्ष*' कहते हैं।

अब प्रतिवादी की बारी आती है। वह सबसे पहले वादी के द्वारा प्रतिपादित पक्ष को दुहराता है। इसको '*अनुवाद*' कहते हैं। ऐसा करने का अभिप्राय यह है जिससे सभास्थित जनता को मालूम हो जाय कि प्रतिवादी ने ठीक-ठीक पूर्वपक्ष को समझ लिया है। अनुवाद के उपरान्त प्रतिवादी खण्डन शुरू करता है। वह पूर्वपक्ष में दोष दिखलाने लगता है और इस तरह उसको असिद्ध प्रमाणित कर प्रतिपक्ष की स्थापना करता है। इसको '*उत्तरपक्ष*' कहते हैं।

अब फिर वादी की बारी आती है। उसने प्रतिपक्षी के द्वारा किये गये दोषारोपण को भली भाँति समझ लिया है। इस बात को दिखलाने के लिये वह पहले प्रतिपक्ष का अनुवाद कर जाता है। इसके बाद प्रतिवादी द्वारा प्रदर्शित दोषों को लेकर वह उनका निराकरण करने लगता है और इस तरह अपने पक्ष का उद्धार करते हुए प्रतिपक्ष का खण्डन करता है।

इसी तरह खण्डन-मण्डन का सिलसिला जारी हो जाता है। अन्त में जाकर जो *स्वपक्ष में दोष का उद्धार* नहीं कर सकता अथवा *परपक्ष में दोषप्रदर्शन* नहीं कर सकता, वह पराजित समझा जाता है। शास्त्रार्थ के बीच में भी जो तर्कशास्त्र के नियम का उल्लङ्घन

करता अथवा निर्दिष्ट क्रम का भङ्ग करता है, वह *निगृहीत* (तिरस्कृत) होकर परास्त समझा जाता है।*

शास्त्रार्थ के दो उद्देश्य हो सकते हैं—

(१) *यथार्थ तत्त्व का निर्णय*

(२) *सभा में विजय प्राप्ति*

(१) वाद—यदि पहले उद्देश्य को लेकर शास्त्रार्थ किया जाता है, तो उसे 'वाद' कहते हैं। इसमें वादी और प्रतिवादी दोनों ज्ञान के भूखे (*ज्ञान बुभुत्सु*) होते हैं, विजय के इच्छुक (*विजिगीषु*) नहीं। वे *जिज्ञासुभाव* से (जानने की इच्छा से) विवाद में प्रवृत्त होते हैं, कुछ युयुत्सु भाव से (लड़ाई की इच्छा से) नहीं। अतएव वाद एकान्त में भी किया जा सकता है। इसके लिये सभा की कोई आवश्यकता नहीं। **गौतम** ने *वाद* का लक्षण यह बतलाया है—

"प्रमाणतर्क साधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः
पंचावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ।"

—गौ. सू. १।२।१

अर्थात् **वाद** में निम्नलिखित लक्षण होते हैं—

(१) उसमें खण्डन-मण्डन के लिये तर्क और प्रमाण का ही आश्रय लिया जाना चाहिये (छल, आदि का नहीं)।

(२) सिद्धान्त से विरुद्ध कोई बात (महज़ दलील करने के खयाल से) नहीं कही जानी चाहिये।

(३) पाँचों अवयव (प्रतिज्ञा, हेतु आदि) से युक्त अनुमान का प्रयोग होना चाहिये।

इन लक्षणों से युक्त जो पक्ष-प्रतिपक्ष का अवलम्बन किया जाता है उसी का नाम *वाद* है।

वाद में वादी और प्रतिवादी दोनों का यही लक्ष्य रहता है कि विचार-विनिमय के द्वारा यथार्थ तत्त्व निकल आवे। कहा भी है—"*वादे वादे वादे जायते तत्त्वबोधः*।" इसीलिये वाद की मर्यादा सबसे अधिक है। क्योंकि इसके द्वारा अज्ञान का निराश होकर ज्ञान की प्राप्ति होती है।

(२) जल्प—केवल जीतने की इच्छा से जो कथा की जाती है, उसे '*जल्प*' कहते हैं।

विजगीषु कथा जल्पः

* देखिये, निग्रहस्थान का प्रकरण।

इसमें वादी और प्रतिवादी दोनों का यही लक्ष्य रहता है कि येनकेन प्रकारेण अपने प्रतिद्वन्द्वी को परास्त किया जाय। प्रतिपक्षी को दबाने के लिये सब तरह के छलबल का उपयोग किया जाता है। छल, जाति, हेत्वाभास आदि अनुचित अस्त्रों से भी काम लेते हुए, योद्धागण नये-नये पैतरे बदलकर एक दूसरे को नीचा दिखाने की चेष्टा करते हैं।

गौतम जल्प की यों परिभाषा करते हैं—

"यथोक्तोपपन्नच्छल जातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः।"

—गौ. सू. १।२।२

अर्थात् तर्क और प्रमाण के साथ ही साथ यदि छल, जाति और निग्रहस्थान से भी काम लिया जाय (अर्थात् निषिद्ध रूप से भी खण्डन-मण्डन किया जाय) तो उसे *जल्प* कहते हैं।

जल्प का उद्देश्य रहता है विजय की प्राप्ति। अतएव वादी या प्रतिवादी असत् पक्ष (मिथ्या बात) को लेकर भी (और अपने पक्ष की कमजोरी जानते हुए भी) केवल अपनी योग्यता और वाक्चातुर्य के बल पर उसे सिद्ध करना चाहता है। जिसमें अधिक प्रतिभा होती है वही विजय प्राप्त करता है।

(३) वितण्डा—यदि जल्प करनेवाला केवल परपक्ष का खण्डन ही करे और अपना कुछ पक्ष स्थापित नहीं करे तो ऐसे जल्प को '*वितण्डा*' कहते हैं।

स (जल्पः) प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा"

—गौ० सू० १।२।३

अर्थात् जिस जल्प में प्रतिपक्षी अपना पक्ष स्थापित नहीं करे, (केवल दूसरे पक्ष का दूषण करे) उसका नाम '*वितण्डा*' है।

वितण्डावादी छल जाति आदि अवैध उपायों का अवलम्बन तो करता ही है। साथ ही साथ वह अपना प्रतिपक्ष भी स्थापित नहीं करता है। उसका कार्य केवल ध्वंसात्मक होता है, रचनात्मक नहीं। वह शत्रुपक्ष के किले पर तो छलबल के साथ आक्रमण करता है। किन्तु अपना कोई किला नहीं बनाता। वैतण्डिक एकतरफ़ा वार करता है। वह दूसरे का वार सहने के लिये खड़ा नहीं होता। क्योंकि जब उसकी अपनी कोई प्रतिज्ञा ही नहीं है तब खण्डन किसका किया जायगा।

तर्कशास्त्र में जल्प और वितण्डावाद हेय दृष्टि से देखा जाता है। क्योंकि यह बकवाद मात्र है, वाद की तरह यथार्थ ज्ञान का साधन नहीं। किन्तु कभी-कभी दुष्ट अथवा मूर्ख से पाला पड़ जाने पर इसकी भी ज़रूरत हो जाती है। इसीलिये **गौतम** कहते हैं—

"तत्त्वाध्यवसाय संरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्"

अर्थात् जैसे खेत में फसल की रक्षा के लिये किसान चारों ओर से काँटे का घेर बना देते हैं, उसी तरह दुष्ट आक्रमणकारी से तत्त्व की रक्षा करने के लिये जल्प और वितण्डा का प्रयोग करना चाहिये (न कि स्वयं तत्त्व ज्ञान के लिये)। अर्थात् "शठे शाठ्यं समाचरेत्"। जब ऐसी नौबत आ जाय तभी जल्प वितण्डा से काम लो, अन्यथा नहीं।

हेत्वाभास

[हेत्वाभास का अर्थ—हेत्वाभास के प्रभेद - सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम, कालातीत—नव्य-न्याय में हेत्वाभास का विचार—साधारण, असाधारण, अनुपसंहारी—सत्प्रतिपक्ष—असिद्ध (आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध, व्याप्यत्वासिद्ध)—बाधित—अनध्यवसित]

हेत्वाभास का अर्थ—जो आपाततः (बाहर से) 'हेतु' की तरह प्रतीत हो, किन्तु यथार्थतः 'हेतु' के लक्षण से रहित हो, वह '*हेत्वाभास*' कहलाता है। वास्तविक हेतु का लक्षण है साधकता। अर्थात् जिसमें साध्य को सिद्ध करने का सामर्थ्य हो वही 'हेतु' है। इसके विपरीत जिसमें साध्य को सिद्ध करने की शक्ति नहीं है, उसे हेत्वाभास (=हेतु का आभास मात्र) जानना चाहिये।

हेत्वाभास के प्रभेद—नैयायिकगण पाँच प्रकार के हेत्वाभास मानते हैं—

"अनैकान्तो विरुद्धश्चाप्यसिद्धः प्रतिपक्षतः।
कालात्ययापदिष्टश्च, हेत्वाभासश्च पञ्चधा।"

गौतम के अनुसार हेत्वाभासों के नाम ये हैं—

(१) *सव्यभिचार*
(२) *विरुद्ध*
(३) *प्रकरणसम*
(४) *साध्यसम*
(५) *कालातीत*

इनमें से प्रत्येक का लक्षण और उदाहरण दिया जाता है।

(१) सव्यभिचार—

'व्यभिचार' शब्द की 'व्युत्पत्ति '*वि*' और '*अभि*' उपसर्ग पूर्वक 'चर्' धातु से होती है। *वि (विशेष रूपेण)* + *अभि (सर्वतोभावेन)* + चार (*गतिः = स्थिति का अभाव*) = *व्यभिचारः*। अतः व्यभिचार का व्युत्पत्त्यर्थ हुआ—"एक विशेष रूप से स्थिति का न होना अर्थात् *अव्यवस्था*।

हेतु का साध्य के साथ व्यवस्थित सम्बन्ध होना चाहिये। धूम का अग्नि के साथ नियमित साहचर्य है। अर्थात् धूम का अधिकरण (=स्थिति का आधार) केवल अग्निमात्र है। दूसरे शब्दों में यों कहिये कि धूम *'ऐकान्तिक'* है (अर्थात् केवल अग्निमात्र का आश्रित है)। इसके विपरीत, लालरंग का अग्नि के साथ ऐकान्तिक सम्बन्ध नहीं है। अर्थात् वह केवल एक पदार्थ अग्नि का ही आश्रित नहीं है। वह अग्नि में भी पाया जाता है और अग्नि के अभाव में भी (जैसे, पुष्प, शोणित आदि पदार्थों में)। इसलिये वह *'अनैकान्तिक'* है (अर्थात् बहुतों का आश्रित है)।

यथार्थ हेतु ऐकान्तिक होता है। अर्थात् वह सर्वदा साध्य के साथ ही रहता है, उससे अलग नहीं। इसके विपरीत, जो साध्य के साथ भी और अलग भी देखने में आता है (अर्थात् जो ऐकान्तिक नहीं है), उसे हेतु नहीं, किन्तु हेतु *का आभास* समझना चाहिये। ऐसे ही हेतु को *'सव्यभिचार'* कहते हैं। इसलिये **गौतम** की परिभाषा है—

"अनैकान्तिकः सव्यभिचारः।"

न्या० सू० १।२।५

उदाहरण—मान लीजिये, यह सिद्ध करना है कि—'वह गाय है।' इसके लिये कोई हेतु देता है—'क्योंकि उसे सींग है।'

यहाँ सींग का गाय के साथ ऐकान्तिक सम्बन्ध नहीं है। वह गाय से भिन्न और और पशुओं में (जैसे भैंस, बकरी आदि में) भी पाई जाती है। अर्थात् सींग का गाय के साथ नियमित सम्बन्ध है नहीं। इसलिये यह हेतु ठीक नहीं। ऐसे गलत हेतु (हेत्वाभास) को 'सव्यभिचार' कहते हैं। **कणाद दर्शन (वैशेषिक)** में इसको *'सन्दिग्ध'* कहा गया है।

(२) विरुद्ध——

"सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः।"

न्या० सू० १।२।६

यदि ऐसा हेतु दिया जो साध्य का उलटा ही सिद्ध करे तो उसे *'विरुद्ध'* समझना चाहिये।

मान लीजिये, कोई सिद्ध करना चाहता है—

"वह पशु गधा है।"

इसके लिये वह हेतु देता है—

"क्योंकि उसे सींग है।"

अब यह प्रत्यक्ष है कि गधे को सींग नहीं होती। अर्थात् सींग गधे में नहीं, वरन् गधे से भिन्न (गाय, भैंस, प्रभृति) पशुओं में पाई जाती है। इसलिये यह हेतु साध्य का साधक नहीं, प्रत्युत बाधक है। इसी को *विरुद्ध* हेत्वाभास कहते हैं।

नोट—पूर्वोक्त हेत्वाभास (सव्यभिचार) और इसमें अन्तर है। सव्यभिचार वहाँ होता है जहाँ दिया हुआ हेतु साध्य के साथ भी पाया जाय और उससे भिन्न भी। किन्तु विरुद्ध उसे कहते हैं जहाँ दिया हुआ हेतु कभी साध्य के साथ नहीं पाया जाय, बल्कि सर्वदा उसके अभाव में ही पाया जाय। ऐसे हेत्वाभास को '*असद्धेतु*' भी कहते हैं, क्योंकि साध्य में उसकी सत्ता रहती ही नहीं।

विरुद्ध हेतु देना क्या है मानों अपने ही हाथों अपने पाँव में कुल्हाड़ी मारना है। जैसे कोई वकील मुद्दई की तरफ से इस तरह उलटी बहस करने लगे कि मुदालह की ही बात साबित हो जाय। इस प्रकार विरुद्ध हेतु देने से अपनी ही बात कट जाती है। इसलिये इसको "*इष्टविघात कर्त्ता*" समझना चाहिये।

(३) प्रकरणसम—

पक्ष और प्रतिपक्ष का अवलम्बन तभी किया जाता है जब साध्य के विषय में सन्देह हो। इसी से प्रकरण बनता है। यदि साध्य या उसके अभाव का निश्चय रहता तब तो प्रकरण (विवाद का अवसर) आता ही नहीं। इसलिये साध्य और उसके अभाव दोनों का अनिश्चय रहने से ही '*प्रकरण*' होता है। अर्थात् जब साध्य और उसके विरुद्ध धर्म दोनों में किसी की उपलब्धि नहीं होती, तभी निर्णय की आवश्यकता होती है। यदि इसी अनिश्चय (सन्देह) का सहारा लेकर अर्थात् साध्य वा उसके अभाव की अनुपलब्धि के बल पर ही, कोई अपने साध्य को सिद्ध करना चाहे तो वह '*प्रकरणसम*' कहलाता है।

इसीलिये **गौतम** कहते हैं—

"*यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः।*"

न्या. सू० १।२।७

अर्थात् जिसको लेकर प्रकरण का होना संभव है, उसी को हेतु मानना '*प्रकरणसम*' हेत्वाभास है।

जैसे, किसी को सिद्ध करना है कि

"*देवदत्त ब्राह्मण है*"

इसके लिये वह हेतु देता है

"*क्योंकि उसमें अब्राह्मणत्व का होना नहीं दीख पड़ता।*"

यहाँ प्रकरणसम हेत्वाभास समझा जायगा। क्योंकि ब्राह्मणत्व या अब्राह्मणत्व का अनिश्चय है (दोनों में किसी की उपलब्धि नहीं है), तभी तो अनुमान का प्रकरण बनता है। यदि दोनों में किसी की निश्चित प्राप्ति होती तो फिर सिद्ध करने की क्या जरूरत थी ?

इसी हेत्वाभास का अवलम्बन कर प्रतिपक्षी भी कह सकता है कि—

"*देवदत्त अब्राह्मण है।*"

"*क्योंकि उसमें ब्राह्मणत्व का होना नहीं दीख पड़ता।*"

इसीलिये 'प्रकरणसम' का दूसरा नाम "सत्प्रतिपक्ष" भी है। क्योंकि इसका प्रतिपक्ष भी मौजूद रहता है और उसमें भी पक्ष के समान ही बल होता है।

(४) साध्यसम—

साध्य के विषय में संदेह रहता है, इसीलिये हेतु के द्वारा उसकी सिद्धि की जाती है। किन्तु हेतु तभी तो साध्य को सिद्ध करेगा जब वह स्वयं असन्दिग्ध हो। यदि वह (हेतु) स्वयं असिद्ध है तब साध्य को कैसे सिद्ध करेगा ? कहावत भी है, "*स्वयमसिद्धः कथं परान् साधयति ?*" इसलिये हेतु (= साधन) को स्वयं सिद्ध रहना चाहिये। यदि वह स्वयं सिद्ध नहीं है तब तो वह भी *साध्य* ही हो जाता है, *साधन* नहीं रहता।

इसीलिये **गौतम** कहते हैं—

"*साध्याऽविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः।*"

न्या० सू० १।२।८

अर्थात् जो हेतु स्वयं साध्य कोटि में आ जाता है, उसमें और साध्य में भेद ही क्या रहा ? ऐसे ही हेत्वाभास को '*साध्यसम*' कहते हैं। (इसी को '*असिद्ध*' अथवा '*अप्रसिद्ध*' भी कहते हैं।)

जैसे, **मीमांसकों** का कहना है कि—

"*छाया द्रव्य है क्योंकि उसमें गति होती है।*"

यहाँ छाया में द्रव्यत्व सिद्ध करने के लिये जो हेतु (गति) कहा गया है, वह स्वयं असिद्ध है। 'छाया में गति होती है' इसका क्या प्रमाण ? यदि यह कहा जाय कि 'हमारे साथ-साथ छाया भी चलती है' तो यह ठीक नहीं। क्योंकि गति गमनशील पुरुष में है, छाया में नहीं। छाया तो केवल आलोक (प्रकाश) का अभाव मात्र है। गतिमान् पदार्थ जहाँ-जहाँ प्रकाश का अवरोध करता जाता है, उसके पश्चाद्भाग में छाया पड़ती जाती है। अतएव छाया में गति का होना सिद्ध नहीं है और जब यह (गति) स्वयं असिद्ध है तब दिये हुए साध्य (द्रव्यत्व) का साधन कैसे होगा ?

(५) कालातीत—

"*कालात्ययापदिष्टः कालातीतः।*"

न्या० सू० १।२।९

अर्थात् साधनकाल का अत्यय हो जाने पर (बीत जाने पर) जो हेतु अपदिष्ट हो (प्रयुक्त हो) उसे '*कालातीत*' ('अतीतकाल' अथवा 'कालत्यायापदिष्ट') कहते हैं।

वात्स्यायन अपने भाष्य में निम्नलिखित उदाहरण द्वारा इसको समझाते हैं। मीमांसक गण शब्द को नित्यसिद्ध करने की चेष्टा करते हैं। उनका कहना है कि रूप की तरह शब्द का भी नित्य अस्तित्व रहता है। जिस तरह घट और प्रकाश के संयोग से रूप की अभिव्यक्ति होती है, उसी तरह नगाड़ा और डंडा दोनों के संयोग से शब्द की अभिव्यक्ति होती है। जिस तरह रूप का अस्तित्व घट-प्रकाश संयोग से पहले भी था और पीछे भी रहेगा; उसी तरह शब्द का अस्तित्व भी भेरी-दण्ड-संयोग के पूर्व-पश्चात् दोनों ही में रहता है। यहाँ *"संयोग के द्वारा अभिव्यक्त होने से"* यह हेतु देकर शब्द को नित्य सिद्ध करने की चेष्टा की गई है।

किन्तु उपर्युक्त हेतु काल का व्यतिक्रम करता है। क्योंकि आघातजन्य संयोग के साथ ही शब्द की उपलब्धि नहीं होती। दूरस्थ व्यक्ति को कुछ देर के बाद शब्द का ज्ञान होता है। दूसरे शब्दों में यों कहिये कि संयोग का काल व्यतीत हो जाने पर शब्द की प्राप्ति होती है। इसलिये यह कहना कि रूप की तरह शब्द की भी अभिव्यक्ति संयोग से होती है' ठीक नहीं। क्योंकि रूप तो साधन (प्रकाश संयोग) के साथ ही अभिव्यक्त होता और उसके हट जाते ही लुप्त हो जाता है। पर शब्द में यह बात लागू नहीं होती। क्योंकि उसकी अभिव्यक्ति संयोगकाल का अतिक्रम करती है। अतएव 'संयोग के द्वारा अभिव्यक्त होना' यह हेतु *कालातीत* है।

नव्यन्याय में हेत्वाभास का विचार—

नव्य न्याय में हेतु और हेत्वाभास को लेकर बहुत ही अनुशीलन किया गया है। **गङ्गेश उपाध्याय** ने (*तत्त्व चिन्तामणि में*) हेत्वाभास के निम्नलिखित पाँच भेद माने हैं—

(१) *सव्यभिचार*

(२) *विरुद्ध*

(३) *सत्प्रतिपक्ष*

(४) *असिद्ध*

(५) *बाधित*

तर्क संग्रहकार **अन्नम् भट्ट** आदि नवीन नैयायिकों ने इन्हीं की पद्धति का अनुसरण किया है।

१. सव्यभिचार—(अनैकान्तिक)। इसके तीन प्रभेद माने गये हैं—
(१) *साधारण* (२) *असाधारण* (३) *अनुपसंहारी*।

(१) **साधारण**—जो हेत्वाभास साध्य के अभाव में भी पाया जाता है, उसे 'साधारण' कहते हैं।

"साध्याभाववद्वृत्तिः साधारणः"

जैसे, यदि कोई अनुमान करे,

"देवदत्त ब्राह्मण है "

क्योंकि उसके सिर में चन्दन लगा है।"

तो यह अयुक्त होगा। क्योंकि सिर में चन्दन का रहना यह चिह्न केवल साध्य (ब्राह्मण) में ही नहीं पाया जाता, साध्य के अतिरिक्त स्थानों में भी (ब्राह्मणेतर क्षत्रियादि वर्णों में भी) पाया जाता है। अर्थात् *सपक्ष* और *विपक्ष* दोनों में ही इसकी स्थिति देखने में आती है। इसीको '*साधारण*' (हेत्वाभास) कहते हैं।

(२) **असाधारण**—जिस (हेत्वाभास) की अवस्थिति न तो सपक्ष में मिले और न विपक्ष में, अर्थात् जिसकी स्थिति केवल दिये हुए पक्षमात्र में सीमित हो, उसे *असाधारण* कहते हैं।

"सर्वसपक्षविपक्षव्यावृत्तः पक्षमात्रवृत्तः असाधारणः"

जैसे, यदि यह कहा जाय कि—

"शब्द नित्य है क्योंकि उसमें शब्दत्व है"

तो यह अयुक्त होगा। क्योंकि शब्दत्व तो केवल शब्दमात्र में रहता है। उसका अधिकरण दूसरा पदार्थ हो ही नहीं सकता। इसलिये अपने पक्ष का दृष्टान्त (सपक्ष) हम कहाँ से लावेंगे ? और यदि दृष्टान्त नहीं देते तो शब्दत्व और नित्यत्व का व्याप्ति सम्बन्ध कैसे स्थापित होगा ? शब्द का दृष्टान्त तो दिया ही नहीं जा सकता। क्योंकि दृष्टान्त वह होता है जिसमें साध्य का निश्चय हो। और शब्द में तो साध्य का निश्चय ही करना है। यहाँ तो शब्द पक्ष (अर्थात् संदिग्ध साध्यवाला) है, वह कभी स्वतः दृष्टान्त नहीं हो सकता। इसलिये 'शब्दत्व' हेतु नहीं माना जा सकता। ऐसे ही हेत्वाभास को *असाधारण* कहते हैं।

(३) **अनुपसंहारी**—जिसका दृष्टान्त न अन्वय (भाव) में मिले और न व्यतिरेक (अभाव) में, उसे *अनुपसंहारी* कहते हैं।

"अन्वय व्यतिरेक दृष्टान्तरहितः अनुपसंहारी।"

—तर्क संग्रह

जैसे, *"सब कुछ उत्तम है। क्योंकि सब कुछ ईश्वर-निर्मित है।"*

यहाँ *'ईश्वर-निर्मित होने के कारण'* यह हेतु माना गया है। अब इस हेतु का दृष्टान्त हम कहाँ से लावेंगे? अर्थात् यह कैसे दिखलावेंगे कि पक्ष से भिन्न स्थान में भी हेतु और साध्य का सामञ्जस्य है। क्योंकि पक्ष से भिन्न स्थान और कोई है ही नहीं। अब पक्ष में 'सब कुछ' आ गया तब बाकी ही क्या रहा, जिसको लेकर हम उदाहरण देंगे? और जब उदाहरण नहीं देंगे तब यह कैसे सिद्ध होगा कि *"जो-जो ईश्वर निर्मित है वह उत्तम है।"*

यदि यह कहा जाय कि 'घट-पट' का उदाहरण दिया जा सकता है तो यह ठीक नहीं। क्योंकि 'घट पट' आदि सभी पदार्थ तो *'सब कुछ'* के अन्दर आ जाते हैं। अर्थात् वे पक्ष के अन्तर्गत ही हैं। और पक्ष अपना दृष्टान्त आप नहीं हो सकता। इसलिये घट पट आदि कोई भी पदार्थ दृष्टान्त कोटि में नहीं आ सकता।

इसी तरह व्यतिरेक में भी दृष्टान्त नहीं मिल सकता। क्योंकि यह कैसे सिद्ध किया जायगा कि—*"जो-जो उत्तम नहीं है, वह ईश्वर-निर्मित नहीं है।"* हमने तो *'सब कुछ'* को ईश्वर-निर्मित मान लिया है, फिर 'ईश्वर से नहीं निर्मित' का दृष्टान्त कहाँ मिलेगा? और जब दृष्टान्त नहीं मिल सकता तब उपर्युक्त व्याप्ति सम्बन्ध का स्थापित होना असंभव है।

अतएव यहाँ अन्वय और व्यतिरेक, दोनों में कोई भी दृष्टान्त नहीं मिलने के कारण हेतु असिद्ध हो जाता है। ऐसे ही हेत्वाभास को *'अनुपसंहारी'* (अर्थात् जिससे कुछ उपसंहार नहीं मिल सके) कहा गया है।

२. विरुद्ध—इसका वर्णन गौतमीय न्याय के अनुसार किया जा चुका है। वही यहाँ भी समझना चाहिये।

३. सत्प्रतिपक्ष—इसे गौतम कथित *प्रकरणसम* का पर्यायवाचक समझना चाहिये। इसका वर्णन भी पूर्व में दिया जा चुका है।

४. असिद्ध—इसके तीन प्रभेद माने गये हैं—(क) *आश्रयासिद्ध* (ख) *स्वरूपासिद्ध* *व्याप्यत्वासिद्ध*।

(१) आश्रयासिद्ध—

"यस्य हेतोराश्रयो नावगम्यते स आश्रयासिद्धः"

जहाँ हेतु का आश्रय (पक्ष) ही असिद्ध हो। जैसे—

"आकाश का फूल सुगन्धित होता है
फूल होने के कारण
*जैसे पृथ्वी का फूल।"**

---

* गगनारविन्दं सुरभ्यरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत् इत्यत्रारविन्दत्वमाश्रयासिद्धम्
—त० सं०

यहाँ हेतु का आश्रयभूत पक्ष (आकाश का फूल) ही असिद्ध है। जब आकाश का फूल ही नहीं होता, तब फिर साध्य कैसा और साधन कैसा? ऐसे असंभव पक्ष में कोई धर्म सिद्ध करने के लिये जो हेतु दिया जाय वह '*आश्रयासिद्ध*' कहलाता है।

(२) स्वरूपासिद्ध—

"*यो हेतुराश्रये नावगम्यते सः स्वरूपासिद्धः।*"

जहाँ दिया हुआ हेतु पक्ष में नहीं पाया जाय। जैसे,

"*घोड़ा भी पक्षी है*
क्योंकि वह आकाश में उड़ सकता है।"

यहाँ जो हेतु (आकाश में उड़ना) दिया गया है, वह पक्ष में (घोड़े में) नहीं पाया जाता। इसीको '*स्वरूपासिद्ध*' कहते हैं।

(३) व्याप्यत्वासिद्ध—

"*सोऽपाधिको हेतुः व्याप्यत्वासिद्धः।*"

जो हेतु उपाधि से युक्त हो (अर्थात् सापेक्ष हो) उसे '*व्याप्यत्वासिद्ध*' कहते हैं। जैसे,

"*पर्वत पर धूम होगा*
क्योंकि उसमें अग्नि है।"

यहाँ अग्नि अकेले पर्याप्त हेतु नहीं है। क्योंकि अग्नि का सम्बन्ध धूम के साथ तभी होता है, जब उसका (अग्नि का) भींगी लकड़ी के साथ संयोग होता है। या यों कहिये कि अग्नि धूम को सिद्ध करने के लिये एक दूसरी बात की भी अपेक्षा रखता है। वह है भींगी लकड़ी का संयोग। इसीका नाम है '*उपाधि*'। इसका धूम (साध्य) के साथ नित्य साहचर्य पाया जाता है, किन्तु अग्नि के साथ नहीं। इसीलिये उपाधि की परिभाषा की गई है—

"*साध्य व्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम् उपाधिः।*"

अर्थात् जो साध्य (धूम) के अभाव में तो कभी नहीं पाया जाय, किन्तु साधन (अग्नि) के अभाव में पाया जाय, उसे '*उपाधि*' कहते हैं।

अग्नि धूम का निरपेक्ष कारण नहीं है। क्योंकि वह उपाधि (*आर्द्रकाष्ठ संयोग*) की अपेक्षा रखता है और इस उपाधि के कारण अग्नि में धूम की व्याप्ति नहीं हो सकती।

अर्थात्, '*जहाँ जहाँ अग्नि है, वहाँ वहाँ धूम है*'

ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि भींगी लकड़ी (उपाधि) के अभाव में निर्धूम अग्नि देखने में आता है (जैसे जलते हुए लोहे में)।

उपाधियुक्त (सोपाधिक) हेतु साध्य की व्याप्ति को सिद्ध नहीं कर सकता। अतएव उसको '*व्याप्यत्वासिद्ध*' कहते हैं।

(४) बाधित—

"*यस्य साध्याभावः प्रमाणान्तरेण निश्चितः स बाधितः।*"

जहाँ हेतु से बढ़कर बलवान् दूसरा प्रमाण साध्य की सिद्धि में बाधा पहुँचावे अर्थात् जो अनुमान प्रमाणान्तर (प्रत्यक्षादि प्रमाण) से कट जाय उसे *बाधित* (खण्डित) समझना चाहिये।

जैसे, "*अग्नि को उष्ण नहीं होना चाहिये, क्योंकि वह द्रव्य है और द्रव्य उष्ण नहीं होता, जैसे मिट्टी, पत्थर आदि।*"

उपर्युक्त रूप से द्रव्यत्व (हेतु) का सहारा लेते हुए यदि कोई अग्नि की अनुष्णता सिद्ध करना चाहे, तो एक छोटी-सी चिनगारी उनका खण्डन करने के लिये काफी है। जो बात प्रत्यक्ष-सिद्ध है उसके विरुद्ध हेतु देना ही निष्फल है। क्योंकि हेतु तो वहाँ दिया जाता है जहाँ साध्य को सिद्ध करना हो। और यहाँ तो वह (प्रत्यक्षादि प्रमाण से) सिद्ध ही है। तो भी यदि हम कोई हेतु देकर इसका उलटा सिद्ध करना चाहें तो वह '*बाधित*' कहलाता है।

भासर्वज्ञ '*अनध्यवसित*' नामक एक और भी हेत्वाभास मानते हैं। अनध्यवसित का अर्थ है—

अनध्यवसितत्वं पक्षमात्रवृत्तित्वम्।

जहाँ साध्य की वृत्ति पक्षमात्र में कही जाय, वहाँ यह हेत्वाभास होता है। जैसे,

"*पर्वत वह्निमान् है,*
क्योंकि वह पर्वत है।"

छल

[छल का अर्थ—वाक्छल—सामान्यच्छल—उपचारच्छल—छल का प्रतीकार]

छल का अर्थ—

"वचनविघातोऽर्थ विकल्पोपपत्त्या छलम् ।"

गौ० सू० १।२।१०

अर्थात्—वक्ता के अभिप्रेत अर्थ को छोड़कर, अर्थान्तर का आरोप करते हुए, वचन विघात करना (बात काटना) 'छल' कहलाता है। मान लीजिये, हमने कोई बात कही। अब हमारी बात का असली मतलब तो आपने उड़ा दिया और कुछ दूसरा ही अर्थ लगाकर लोगों के सामने उसकी धज्जियाँ उड़ाने लगे। ऐसा करने को 'छल' कहते हैं। अँगरेजी में इसे 'Quibbling' कहते हैं।

छल तीन प्रकार के होते हैं

(१) *वाक्छल*

(२) *सामान्य छल*

(३) *उपचार छल*

(१) वाक्छल—

"अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम् ।"

न्या० सू० १।२।१२

एक ही शब्द के कई भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। जब वक्ता किसी शब्द का प्रयोग करता है, तब उसके मन में एक विशेष अर्थ पर लक्ष्य रहता है। उस अर्थ को *'विवक्षित'* या *'अभिप्रेत'* अर्थ कहते हैं। श्रोता को उसी अर्थ का ग्रहण करना चाहिये। किन्तु यदि कोई श्रोता केवल खण्डन करने की इच्छा से, महज बतकट के खयाल से, अर्थ को अनर्थ कर डाले, कही हुई बात का कुछ और ही मानी लगा ले, तो यह *'वाक्छल'* कहलायगा।

मान लीजिये, किसीने कहा

"यह पुरुष नववधूवाला है।"

अब *'नव'* शब्द के दो अर्थ होते हैं-(१) *नवीन* और (२) *नौ* (संख्या)। वक्ता का अभिप्राय प्रथम अर्थ (नवीन) से है। किन्तु इसके विपरीत यदि कोई दूसरा अर्थ लगाकर कहे—"क्योंजी, इसके पास तो एक ही वधू है। फिर इसे नव (९) वधू वाला क्यों कहते हो ? तुम्हारा कहना गलत है।" तो यह *वाक्छल* हुआ।

(२) सामान्यच्छल—

"संभवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसंभूतार्थकल्पनासामान्यच्छलम् ।"

न्या० सू० १।२।१३

संभावित अर्थ को छोड़कर, असम्भव अर्थ की कल्पना करते हुए, दोषनिदर्शन करना '*सामान्य छल*' कहलाता है। मान लीजिये, किसी ने कहा, "*आम मीठा होता है।*" अब यदि इसपर कोई कहे—

"यदि आम होने ही से मीठापन आ जाता है तो कच्चा आम भी तो आम ही है। फिर उसमें भी मीठापन होना चाहिये। किन्तु सो तो नहीं है। इसलिये तुम्हारी बात गलत है।"

तो यह सामान्यछल का उदाहरण हुआ। क्योंकि वक्ता का आशय यह नहीं था कि मीठापन में और आम में कार्य-कारण की तरह नित्य सम्बन्ध है। उसका अभिप्राय यह था कि आम पकने पर मीठा हो जाता है। अतएव आम को मीठापन का विषय (आधार) समझना चाहिये, हेतु नहीं। किन्तु जान-बूझकर भी, यदि वचन का खण्डन करने के लिये, असंभूत अर्थ की उद्भावना की जाय, तो वह '*सामान्य छल*' होगा।

(३) उपचारच्छल—

"धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थः सद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम् ।"

न्या. सू. १।२।१४

किसी शब्द का जो प्रकृत अर्थ है, उसको अभिधेयार्थ कहते हैं। उसी अर्थ में शब्द का प्रयोग करना '*अभिधान*' कहलाता है, किन्तु कभी-कभी किसी शब्द से वक्ता का लक्ष्य उसके प्रधान अभिधेयार्थ पर नहीं रहता, प्रत्युत उसके गौण लाक्षणिक अर्थ पर रहता है। ऐसी अवस्था में वाक्य का शब्दार्थ नहीं लेकर उसका तात्पर्य ग्रहण करना चाहिये। यदि जान-बूझकर दोषारोपण करने के लिये ऐसा नहीं किया जाय तो वह *उपचार छल* कहलाता है।

मान लीजिये, किसी ने कहा—

"*दोनों रथ आपस में लड़ रहे हैं।*" अब यहाँ वक्ता ने यद्यपि '*रथ*' शब्द का प्रयोग किया है, तथापि उसका तात्पर्य '*रथारोही*' से है।

यदि इस तात्पर्य को न लेकर कोई कोरा शब्दार्थ लगाते हुए कहे—"क्यों जी, रथ तो निर्जीव पदार्थ हैं, जड़ हैं। वे परस्पर युद्ध कैसे करेंगे। अतएव तुम्हारी बात सरासर झूठ है।"—तो यह '*उपचार छल*' कहलायगा।

'छल' का प्रतीकार—तर्कशास्त्र में 'छल' का अवलम्बन करना बहुत ही दोषपूर्ण और निन्दनीय समझा जाता है। यदि कोई दुष्टता से 'छल' के द्वारा बात का खण्डन करने लगे तो वक्ता को चाहिये कि अपने यथार्थ अभिप्रेत अर्थ का अच्छी तरह स्पष्टीकरण कर दे जिससे 'छल' करनेवाला स्वयं लज्जित हो जाय।

जाति

[जाति का लक्षण—जाति के प्रभेद—साधर्म्यसम—वैधर्म्यसम—उत्कर्षसम—अपकर्षसम—वर्ण्यसम—अवर्ण्यसम—विकल्पसम—साध्यसम—प्राप्तिसम—अप्राप्तिसम—प्रसङ्गसम—प्रतिदृष्टान्तसम—अनुत्पत्तिसम—संशयसम—प्रकरणसम—हेतुसम—अर्थापत्तिसम—अविशेषसम—उपपत्तिसम—उपलब्धिसम—अनुपलब्धिसम—नित्यसम—अनित्यसम—कार्यसम]

जाति का लक्षण—

जाति की परिभाषा यों की गई है—

"*साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः।*"

—गौ० सू० १।२।१८

केवल साधर्म्य (समानता) और वैधर्म्य (विभिन्नता) के आधार पर जो प्रत्यवस्थान (दोष निरूपण) किया जाय उसे '*जाति*' कहते हैं। अर्थात् व्याप्ति सम्बन्ध (Universal Concomitance) स्थापित किये बिना ही केवल सादृश्य (Similarity) और वैधर्म्य (Difference) के बल पर जो खण्डन किया जाता है, वह *जाति* कहलाता है।

जाति के प्रभेद—

जाति के द्वारा जो प्रतिषेध (दूषण या खण्डन) किया जाता है, उसके २४ भेद **गौतम** मुनि ने गिनाये हैं। यहाँ प्रत्येक का नाम और उदाहरण दिया जाता है।

(१) साधर्म्यसम—

"*साधर्म्येणोपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्यसमः।*"

—न्या० सू० ५।१।२

नैयायिकों का कहना है।

"*शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् घटवत्*"

अर्थात् घट (घड़ा) और पट (वस्त्र) की तरह शब्द भी कारणविशेष से उत्पन्न होता है। अतएव जैसे घट और पट अनित्य हैं, उसी तरह शब्द भी अनित्य है।" यहाँ

जन्यत्व (उत्पद्यमानत्व) और अनित्यत्व में जो व्याप्ति-सम्बन्ध है, उसीके आधार पर पूर्वोक्त अनुमान किया गया है।

किन्तु मान लीजिये, प्रतिपक्षी इस व्याप्ति सम्बन्ध की उपेक्षा कर केवल सादृश्य के बल पर, इस तरह खण्डन करता है—

"यदि अनित्य घट पट की तरह कार्य (कारणप्रसूत) होने से ही शब्द को भी अनित्य मानते हो, तो नित्य आकाश की तरह अमूर्त्त (निराकार) होने से शब्द को नित्य भी क्यों नहीं मानते ? यदि घट और शब्द में कार्यत्व को लेकर साधर्म्य है, तो आकाश और शब्द में भी अमूर्त्तत्व को लेकर साधर्म्य है। तब शब्द में घट पट का ही धर्म (अनित्यत्व) क्यों आरोपित किया जाय और आकाश का धर्म (नित्यत्व) क्यों नहीं आरोपित किया जाय ?

इस प्रकार खण्डन करना *'साधर्म्यसम'* जाति का उदाहरण होगा। इसका उत्तर यों दिया जा सकता है कि आकाश और शब्द में अमूर्त्तत्व को लेकर साधर्म्य है तो इससे यह नहीं सिद्ध होता कि दोनों प्रत्येक बात में समानधर्मा हैं। एकाङ्गीन साधर्म्य से सर्वाङ्गीन साधर्म्य की उपपत्ति नहीं होती।''

(२) वैधर्म्यसम—

"वैधर्म्येणोपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेर्वैधर्म्यसमः।"

—न्या० सू० ५।१।२

मान लीजिये, पूर्वोक्त अनुमान (*शब्द घट पट की तरह उत्पन्न होने के कारण अनित्य है*) का कोई प्रतिवादी इस तरह खण्डन करता है—

"घट और पट में मूर्त्तत्व (साकारत्व) है और वे अनित्य हैं।

किन्तु शब्द में मूर्त्तत्व नहीं है, प्रत्युत उसका विरुद्ध धर्म अर्थात् अमूर्त्तत्व (निराकारत्व) है। इसी तरह घट का जो अनित्यत्व धर्म है उसका विरुद्ध धर्म (नित्यत्व) शब्द में होना चाहिये। अर्थात् यदि घट पट अनित्य हैं तो शब्द उनसे विरुद्धधर्मा होने के कारण नित्य होगा।"

इस तरह का खण्डन *'वैधर्म्यसम'* जाति का उदाहरण है। इसका उत्तर यों दिया जा सकता है कि घट पट और शब्द में मूर्त्तत्व को लेकर वैधर्म्य है तो इससे यह नहीं सिद्ध होता है कि दोनों प्रत्येक बात में विरुद्धधर्मा हैं। एकाङ्गीन वैधर्म्य से सर्वाङ्गीन वैधर्म्य की उपपत्ति नहीं होती।

(३) उत्कर्षसम—

"दृष्टान्तधर्मं साध्येन समासजन्नुत्कर्षसमः।"

मान लीजिये, पूर्वोक्त अनुमान का खण्डन इस तरह किया जाता है—"घट में तीन

गुण हैं। वह (१) *कारणजनित (कार्य)* है, (२) *अनित्य* है और (३) *रूपवान्* है। यदि शब्द में घट का पहला गुण (*कार्यत्व*) होने से हम उसमें घट वाला दूसरा विशेषण (*अनित्य*) भी जोड़ देते हैं, तो फिर उसमें तीसरा विशेषण (*रूपवान्*) भी क्यों नहीं जोड़ दिया जाय? अर्थात् शब्द में जब घट की तरह कार्यत्व और अनित्यत्व है, तब उसमें रूप भी होना चाहिये।"

यह *'उत्कर्षसम'* जातिका उदाहरण है।

(४) अपकर्षसम—

"साध्य धर्माभावं दृष्टान्तप्रसज्जयतोऽपकर्षसमः।"

जैसे पूर्वोक्त अनुमान का इस तरह खंडन किया जाय—"घट में तीन गुण है—(१) *रूप*, (२) *कृतकत्व* और (३) *अनित्यत्व*। शब्द में रूप नहीं है। अतएव उसमें *कृतकत्व* और अनित्यत्व भी नहीं होना चाहिये।"

इस तरह के खंडन का नाम *'अपकर्षसम'* जाति है।

इन दोनों जातियों के उत्तर भी पूर्वोक्त प्रकार से दिये जा सकते हैं।

(५) वर्ण्यसम—

(६) अवर्ण्यसम—

"स्थापनीयो वर्ण्यो विपर्ययादवर्ण्यस्तावेतौ
साध्यदृष्टान्तधर्मौ विपर्यस्यतो वर्ण्यावर्ण्यसमौ।"

वात्स्यायन ५।१।४.

मान लीजिये, पूर्वोक्त अनुमान पर कोई यह आपत्ति करता है—

"घट *दृष्टान्त* है। शब्द *दार्ष्टान्त* है। तब दोनों में तुल्यरूपता रहनी चाहिये। अब देखिये, दोनों तुल्य हैं अथवा नहीं। घट की अनित्यता का निश्चय है। किन्तु शब्द की अनित्यता सिद्ध करने का प्रयोजन है। इसलिये मालूम होता है कि शब्द की अनित्यता संदिग्ध है। तभी तो उसे सिद्ध करने की आवश्यकता होती है। अगर घट की तरह शब्द में भी अनित्यता का निश्चय रहता तो फिर अनुमान करने की क्या जरूरत थी? इससे प्रकट होता है कि घट में अनित्यता धर्म का निश्चय है, शब्द में उस धर्म का संदेह है। जब ऐसी बात है तब दृष्टान्त (घट) और दार्ष्टान्त (शब्द) में तुल्यरूपता कहाँ रही? और यदि दोनों की तुल्यरूपता कायम रखना चाहें तो हमें दो में एक बात माननी पड़ेगी—

(१) या तो शब्द की तरह घट में भी अनित्यता धर्म का संदेह होना चाहिये। अथवा

(२) घट की तरह शब्द में भी अनित्यता धर्म का निश्चय होना चाहिये।

दोनों में कोई भी बात मानने से पूर्वोक्त प्रतिज्ञा (*शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् घटवत्*) की सिद्धि नहीं होती। क्योंकि पहली अवस्था में '*उदाहरण*' असिद्ध हो जाता है, और दूसरी अवस्था में '*पक्ष*' असिद्ध हो जाता है, क्योंकि पक्ष का अर्थ ही है—"*जिसमें साध्य का संदेह हो, निश्चय नहीं*†" और उदाहरण या पक्ष के असिद्ध हो जाने पर साध्य की उपपत्ति ही नहीं हो सकती।"

उपर्युक्त दोनों आक्षेपों के नाम ही क्रमशः '*वर्ण्यसम*' और '*अवर्ण्यसम*' हैं।

(७) विकल्पसम—

"*धर्मस्यैकस्य केनापि धर्मेण व्यभिचारतः*
हेतोः साध्याभिचारोक्तौ विकल्प समजातिता।"

—तार्किकरक्षा

इसके अनुसार जातिवादी पूर्वोक्त अनुमान (*शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् घटवत्*) का इस तरह खण्डन करेगा—

"घट में '*कृतकत्व*' और '*गुरुत्व*' दोनों धर्म मौजूद हैं। यहाँ ये दोनों धर्म सहचर हैं। किन्तु वायु में '*कृतकत्व*' है, '*गुरुत्व*' नहीं। इससे जान पड़ता है, कि '*कृतकत्व*' और '*गुरुत्व*' ये दोनों धर्म नित्य सहचर नहीं हैं। इसी तरह '*गुरुत्व*' और '*अनित्यत्व*' को ले लीजिये। घट में इन दोनों का साहचर्य है। किन्तु परमाणु में नहीं। परमाणु में '*गुरुत्व*' है किन्तु '*अनित्यत्व*' नहीं। इससे सिद्ध होता है कि इन दोनों धर्मों में भी नित्य साहचर्य नहीं है। इसी प्रकार '*मूर्त्तत्व*' और '*अनित्यत्व*' को ले लीजिये। घट में दोनों धर्म हैं। किन्तु क्रिया में '*अनित्यत्व*' होते हुए भी '*मूर्त्तत्व*' नहीं है। न्याय के शब्दों में यों कहेंगे कि क्रिया में जो अनित्यत्व है वह मूर्त्तत्वव्यभिचारी है। इसी तरह सभी धर्मों में परस्पर व्यभिचार देखने में आता है। अर्थात् एक के बिना भी दूसरा देखने में आता है। जब ऐसी बात है तब '*कृतकत्व*' और '*अनित्यत्व*' में ही क्यों अव्यभिचारी भाव मान लिया जाय ? अतः शब्द में अनित्यत्व व्यभिचारी कृतकत्व भी रह सकता है। सारांश यह कि शब्द कार्य होते हुए भी नित्य माना जा सकता है।"

उपर्युक्त खण्डन शैली को '*विकल्पसम*' जाति कहते हैं।

(८) साध्यसम

"*साध्यदृष्टान्तयो धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वात् साध्यसमः।*"

—न्या० सू० ५।१।४

† सन्दिग्ध साध्यवान् पक्षः

मान लीजिये, जातिवादी पूर्वकथित अनुमान का इस प्रकार खण्डन करता है—

"यदि घट के समान शब्द है, तो शब्द के समान घट भी होना चाहिये। यदि शब्द का अनित्य होना साध्य है, तो घट का भी साध्य है। नहीं तो घट और शब्द का साधर्म्य कैसे स्थापित होगा ?"

यहाँ दृष्टान्त को भी साध्य कोटि में खींच लाया गया है। इसका नाम *'साध्यसम'* जाति है।

नोट—पूर्वोक्त जातियों का उत्तर यों दिया जा सकता है कि दृष्टान्त में दार्ष्टान्त के सारे धर्म नहीं मिल सकते। यदि सब मिल जायँ तो फिर वह दृष्टान्त ही नहीं कहला सकता। दृष्टान्त में साध्य से एक देशीय समानता रहती है। यदि सर्वदेशीय समानता रहे तब तो उसमें और साध्य में तादात्म्य (अभेद) सम्बन्ध हो जायगा। अर्थात् दोनों में कोई भेद ही नहीं रह जायगा। अतएव आंशिक वैधर्म्य को लेकर साध्य की सिद्धि में दूषण देना ठीक नहीं।

(९) प्राप्तिसम
(१०) अप्राप्तिसम

"प्राप्यसाध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्त्याविशिष्टत्वात्
अप्राप्त्या असाधकत्वाच्च प्राप्त्यप्राप्तिसमौ"

—न्या. सू. ५।१।७

मान लीजिये, पूर्वोक्त अनुमान पर जातिवादी यह शंका करता है—

"तुम हेतु देकर साध्य को सिद्ध करते हो। अब यह बताओ कि हेतु और साध्य, दोनों में सम्बन्ध पाया जाता है या नहीं ? यदि कहो कि हाँ, तब यह कैसे निश्चय होगा कि कौन किसका साधक है और कौन किसका साध्य है ? और यदि कहो कि नहीं, तब तो सम्बन्ध के अभाव में साध्य-साधक भाव होना ही असंभव है।"

हेतु और साध्य में सम्बन्ध की प्राप्ति मानकर जो खण्डन किया जाता है उसे *'प्राप्तिसम'*, और अप्राप्ति मानकर जो खण्डन किया जाता है उसे *'अप्राप्तिसम'* कहते हैं।

नोट—इन दोनों का उत्तर गौतम यों देते हैं कि साध्य की सिद्धि प्राप्ति और अप्राप्ति दोनों ही अवस्थाओं में देखने में आती है। जैसे, घट की निष्पत्ति कर्त्ता, करण और अधिकरण के सम्बन्ध से होती है। इसके विपरीत अभिचार (गुप्त-मन्त्रादि) द्वारा पीड़ा पहुँचाने पर मनुष्य को हेतु की अप्राप्ति होते हुए भी पीड़ा का अनुभव होता है।

(११) प्रसङ्गसम—

"दृष्टान्तस्य कारणानपदेशात् प्रत्यवस्थानात् प्रसङ्गसमः"

—न्या. सू. ५।१।९

मान लीजिये पूर्वोक्त अनुमान (*शब्दोऽनित्यः कृतकत्वात् घटवत्*) का कोई इस तरह प्रत्यवस्थान (दूषण) करता है—

"शब्द की अनित्यता सिद्ध करने के लिये आप घट का दृष्टान्त देते हैं। किन्तु घट अनित्य है इसका क्या प्रमाण ? आप कहियेगा कि घट पट की तरह कार्य है, अतएव अनित्य है। किन्तु पट कार्य है इसका क्या प्रमाण ? इसी तरह आपका प्रत्येक साधन साध्य होता जायगा और आप अपने प्रतिज्ञात साध्य को कभी सिद्ध नहीं कर सकेंगे।"

ऐसे खण्डन का नाम *प्रसङ्गसम* है।

नोट—इसका उत्तर सूत्रकार ने अगले सूत्र में दिया है—

"प्रदीपोपादानप्रसङ्गनिवृत्तिवत्तद्विनिवृत्तिः"

—न्या. सू. ५।१।१०

अर्थात्—ऐसी आपत्ति करने से अनवस्था दोष आ जाता है। प्रत्येक प्रमाण का प्रमाण देने लगिये तो कभी अन्त ही नहीं होगा। और न ऐसा करने की आवश्यकता ही है। क्योंकि दृष्टान्त तो अज्ञात वस्तु को बोधगम्य बनाने के लिये होता है। जिस तरह दीपक अन्धकार में निहित वस्तु को आलोकित कर दिखलाता है उसी तरह दृष्टान्त संदिग्ध विषय को स्पष्ट कर दिखलाता है। जिस तरह दीपक को देखने के लिये दूसरे दीपक की आवश्यकता नहीं पड़ती, उसी तरह दृष्टान्त को समझने के लिये दूसरे दृष्टान्त की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि दृष्टान्त तो उसी का दिया जाता है जो बिल्कुल प्रसिद्ध और परीचित है।

(१२) प्रतिदृष्टान्तसम—

"प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानात् प्रतिदृष्टान्तसमः"

—न्या. सू. ५।१।११

प्रतिदृष्टान्त (प्रतिकूल दृष्टान्त) देकर जो खण्डन किया जाता है उसे '*प्रतिदृष्टान्तसम*' कहते हैं।

मान लीजिये, किसी ने कहा—

आत्मा क्रियावान् है (साध्य)

क्योंकि वह क्रिया के हेतुरूपी गुण से युक्त है (हेतु)

जैसे वायु (उदाहरण)

यहाँ वायु का दृष्टान्त देकर आत्मा को क्रियावान् सिद्ध करने की चेष्टा की गई है।

अब इसपर दूसरा व्यक्ति आकाश का दृष्टान्त देकर कहता है—"*अमूर्त्त आकाश की तरह अमूर्त्त आत्मा भी निष्क्रिय है।*"

यह *प्रतिदृष्टान्तसम* का उदाहरण है।

नोट—इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि केवल दृष्टान्त के बल पर खण्डन या मण्डन नहीं किया जा सकता। हेतु और साध्य में व्याप्ति सम्बन्ध रहना आवश्यक है।

(१३) अनुत्पत्तिसम—

"प्रागुत्पत्तेः कारणाभावात् अनुत्पत्तिसमः"

—न्या. सू. ५।१।१२

उत्पत्ति से पूर्व कारण का अभाव बतलाकर जो खण्डन किया जाय उसे '*अनुत्पत्तिसम*' कहते हैं।

इसे यों समझिये। शब्द की अनित्यता को लेकर जो अनुमान कहा गया है, उसपर कोई व्यक्ति यह एतराज़ पेश करता है—

"जब शब्द अनुत्पन्न था (अर्थात् जब उसकी उत्पत्ति नहीं हुई थी) तब उसमें '*कृतकत्व*' कहाँ था? और जब उसमें कृतकत्व नहीं था तब उसे नित्य मानना ही पड़ेगा। और जब उसमें नित्यता मानेंगे तब फिर उसकी उत्पत्ति क्योंकर हो सकती है? अर्थात् नित्यत्वयुक्त शब्द कभी अनित्य नहीं हो सकता।"

यह *अनुत्पत्तिसम* का उदाहरण हुआ।

नोट—इसका उत्तर नैयायिक लोग यों देते हैं कि उत्पत्ति से पहले तो शब्द था ही नहीं। और जब उसका अस्तित्व ही नहीं था तब फिर नित्यत्व कैसा?

(१४) संशयसम—

"सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्यानित्यसाधर्म्यात् संशयसमः"

—न्या० सू० ५।१।१४

संशय के द्वारा जो खण्डन किया जाय, वह '*संशयसम*' कहलाता है?

मान लीजिये, पूर्वोक्त अनुमान (*शब्दोऽनित्यः*) पर कोई यह आक्षेप करता है—

"अनित्य घट और नित्य गोत्व आदि जाति दोनों इन्द्रियग्राह्य हैं। शब्द भी इन्द्रियग्राह्य होने के कारण, नित्य और अनित्य, दोनों का समानधर्मा है। ऐसी अवस्था में उसकी नित्यता वा अनित्यता का निश्चय कैसे हो!"

यह *संशयसम* का उदाहरण है।

(१५) प्रकरणसम—

उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः।

—न्या० सू० ५।१।१६

पक्ष और प्रतिपक्ष की प्रवृत्ति को *प्रक्रिया* कहते हैं। जहाँ दोनों (नित्य और अनित्य) का साधर्म्य दिखलाकर प्रक्रिया की सिद्धि हो वहाँ *प्रकरणसम* जानना चाहिये।

जैसे, गोत्व (नित्य जाति) में इन्द्रियग्राह्यत्व है। और घट (अनित्य व्यक्ति) में भी इन्द्रियग्राह्यत्व है।

अतएव नित्य और अनित्य दोनों समानधर्मा हैं। यहाँ शब्द के इन्द्रियग्राह्यत्व को लेकर एक पक्ष घट के साधर्म्य से उसे अनित्य सिद्ध करता है। दूसरा पक्ष गोत्व के साधर्म्य से उसे नित्य सिद्ध करता है।

यह *प्रकरणसम* का उदाहरण हुआ।

(१६) अहेतुसम—

"त्रैकाल्यासिद्धे र्हेतोरहेतुसमः"

—न्या. सू० ५।१।१८.

तीनों (भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान) कालों में हेतु की असिद्धि दिखलाकर जो खण्डन किया जाता है उसे '*अहेतुसम*' कहते हैं।

उदाहरण—"घट का हेतु (साधन) क्या है ? इसका उत्तर लोग देते हैं—चाक, डंडा इत्यादि। अच्छा, अब यह हेतु (जैसे चाक) घट के पूर्व रहकर कार्य करता है या घट के पश्चात् रहकर ? यदि घट के पूर्व मानते हैं तो उस समय घट का अस्तित्व था ही नहीं, फिर उसका कारण कैसे होगा ? यदि पश्चात् मानते हैं तो भी कारण की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि उसके पहले ही घट (कार्य) हो जाता है। यदि दोनों को समकालीन मानते हैं तो यह भी ठीक नहीं। क्योंकि युगपत् (एक साथ) होने से, गौ की दाहिनी और बाँई सींगों के समान, दोनों में *कार्य कारण भाव* सिद्ध नहीं होता।"

नोट—इसका उत्तर नैयायिक लोग यों देते हैं कि कारण कार्य के पहले रह कर उसे सिद्ध करता है। उस समय कार्य का अभाव कारण का बाधक नहीं प्रत्युत साधक होता है, क्योंकि जब कार्य नहीं था तभी तो कारण के द्वारा उसकी उत्पत्ति हुई।

(१७) अर्थापत्तिसम—

"अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धे रर्थापत्तिसमः"

—न्या० सू० ५।१।२१

एक बात के कहने से जब दूसरी बात की प्रतिपत्ति हो तो उसे '*अर्थापत्ति*' कहते हैं। जहाँ खींच-तानकर अर्थापत्ति के द्वारा खण्डन किया जाय वहाँ '*अर्थापत्तिसम*' जानना चाहिये।

जैसे, किसी ने कहा—

शब्दोऽनित्यः (शब्द अनित्य है)

कृतकत्वात् (उत्पन्न होने से)

अब यहाँ कोई इस तरह खण्डन करने लगता है—'*शब्द अनित्य है*' ऐसा कहने से बोध होता है कि शब्द के अतिरिक्त और सभी कुछ नित्य हैं। "*उत्पन्न होने के कारण*" ऐसा कहने से बोध होता है कि इस हेतु के अतिरिक्त और जितने भी हेतु हैं सो नित्यता के साधक हैं। यदि यही बात है तो हम दूसरा हेतु (जैसे अस्पृष्टता) देकर शब्द को नित्य सिद्ध करते हैं। जैसे,

"*शब्दो नित्यः* (शब्द नित्य है)

अस्पृष्टत्वात् (क्योंकि उसका स्पर्श नहीं होता) ।"

यह '*अर्थापत्तिसम*' का उदाहरण हुआ।

नोट—इसके उत्तर में नैयायिक लोग कहते हैं—"वाह, यह तो अच्छा तर्क निकाला। अगर इसी तरह अर्थापत्ति करने लगो तब तो '*भारी घट साकार है*' कहने से यह अर्थ निकालोगे कि *हल्का पट निराकार है!* "*आम मीठा होता है*" कहने से यह नहीं बोध होता कि *कटहल और जामुन मीठे नहीं होते*। अतएव तुम्हारी यह आपत्ति निर्मूल है।

(१८) अविशेषसम—

'*एक धर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसङ्गात् सद्भावोपपत्तेरविशेषसमः*"

—न्या० सू० ५।१।२३.

पूर्वोक्त अनुमान (*शब्दोऽनित्यः*) को ले लीजिये। इसपर कोई कहता है—

"घट और शब्द में '*कृतकत्व*' की उभयनिष्ठता लेकर तुम दोनों की अविशेषता (सामान्यता) स्थापित करते हो और इस तरह शब्द की अनित्यता सिद्ध करते हो। किन्तु इसी तर्कप्रणाली के अनुसार हम कह सकते हैं कि संसार के सभी पदार्थों में *सत्ता* (अस्तित्व) गुण मौजूद है। अर्थात् सत्ताधर्म सर्वपदार्थनिष्ठ है। फिर सभी पदार्थों में अविशेषता क्यों नहीं मानी जाय? और एक का गुण दूसरे में क्यों नहीं आरोपित किया जाय?"

इस प्रकार का प्रत्यवस्थान (खण्डन) करना '*अविशेषसम*' कहलाता है।

नोट—इसका उत्तर यह है कि सामान्य धर्म की उपपत्ति होने से विशेष धर्म की उपपत्ति नहीं होती। गो और अश्व में एक ही सामान्य धर्म (*चतुष्पादत्व*) रहते हुए भी गो का विशेष धर्म *शृङ्गित्व* (सींग का होना) अश्व में नहीं पाया जाता।

(१९) उपपत्तिसम—

"*उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः*"

—न्या० सू० ५।१।२५.

दो विरुद्ध कारणों की उपपत्ति दिखलाते हुए खण्डन करने का नाम '*उपपत्तिसम*' है। जैसे, पूर्वोक्त अनुमान (*शब्दोऽनित्यः*) पर कोई कहे—

"यदि शब्द में अनित्यता का साधक कारण (कृतकत्व) मिलता है तो उसमें नित्यता का साधक कारण (अस्पृष्टत्व) भी मिलता है। जब दोनों विरुद्ध कारणों की उपपत्ति होती है, तब शब्द को नित्य भी मानना पड़ेगा।"

नोट—यह उपपत्तिसम का उदाहरण हुआ। इसके उत्तर में नैयायिक कहेंगे कि हम 'कृतकत्व' साधन के द्वारा शब्द की अनित्यता सिद्ध करना चाहते हैं। जब तुमने हमारे दिये हुए साधक कारण की उपपत्ति स्वीकार कर ली (कि कृतकत्व अनित्यता का साधक है) तब फिर सारा झगड़ा ही खतम हो गया। हम तो इतना ही स्वीकार करवाना चाहते थे।

(२०) उपलब्धिसम—

"*निर्दिष्टकारणाभावेप्युपलम्भादुपलब्धिसमः*"

—न्या० सू० ५।१।२७.

निर्दिष्ट कारण के अभाव में भी साध्य की उपलब्धि दिखलाकर जो खण्डन किया जाय उसे '*उपलब्धिसम*' कहते हैं।

जैसे, "*पर्वतो वह्निमान् धूमात्*" (अर्थात् पहाड़ पर अग्नि है, क्योंकि वहाँ धुआँ देखने में आता है), इसपर कोई इस तरह आक्षेप करता है—

"जहाँ धुआँ कारण नहीं रहता वहां भी तो आग (साध्य) देखने में आती है, जैसे जलते हुए लौह खण्ड में। इसलिये धूम को अग्नि का साधक मानना ठीक नहीं।"

यह '*उपलब्धिसम*' का उदाहरण हुआ।

नोट—इसके उत्तर में नैयायिक कहेंगे कि कारणान्तर से भी यदि साध्य की उपपत्ति होती है तो इससे हमारा क्या हर्ज है ? कहीं एक हेतु (धूम) से अग्नि का अनुमान होता है, कहीं दूसरे हेतु (प्रकाश) से, किन्तु इससे यह तो नहीं कहा जा सकता कि एक हेतु दूसरे हेतु का बाधक है।

(२१) अनुपलब्धिसम

"*तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसमः*"

—न्या० सू० ५।१।२९.

अनुपलब्धि की अनुपलब्धि दिखला कर जो खण्डन किया जाता है उसे '*अनुपलब्धिसम*' कहते हैं। नीचे दिये हुए उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

नैयायिकों का कहना है कि "शब्द नित्य नहीं। क्योंकि उच्चारण के पूर्व और पश्चात् उसकी उपलब्धि नहीं होती।" यदि इसपर कोई यह कहे कि "जिस तरह मेघाच्छादित सूर्य की उपलब्धि नहीं होती, उसी तरह किसी आवरण से आवृत होने के कारण शब्द की उपलब्धि नहीं होती, अर्थात् शब्द का अस्तित्व निहित रहता है," तो यह भी ठीक नहीं।

क्योंकि मेघाच्छादित सूर्य का आवरण (मेघ) प्रत्यक्ष देखने में आता है। किन्तु शब्द का कोई आवरण देखने में नहीं आता। इसलिये आवरण के अभाव से शब्द का अभाव भी सिद्ध होता है। अर्थात् शब्द का प्रागभाव और पश्चादभाव मानना ही पड़ेगा।"

इसपर जातिवादी यों खण्डन करता है—

"आप कहते हैं कि आवरण की उपलब्धि नहीं होती। इसीलिये आप आवरण का अभाव मानते हैं। किन्तु जिस तरह आपको आवरण की उपलब्धि नहीं होती उसी तरह आवरण की अनुपलब्धि की भी तो उपलब्धि नहीं होती। यदि अनुपलब्धि के बल पर आप आवरण के अभाव की सिद्धि करते हैं तब उसी (*अनुपलब्धि*) के बल पर हम '*आवरण की अनुपलब्धि*' का भी अभाव सिद्ध करेंगे। इस तरह *आवरण की उपलब्धि* सिद्ध हो जायगी।"

यह खण्डन '*अनुपलब्धिसम*' का उदाहरण है।

नोट—इसके उत्तर में नैयायिक कहते हैं—"अनुपलब्धि तो स्वयं उपलब्धि का अभाव है। फिर उसकी उपलब्धि या अनुपलब्धि कैसी? क्या कहीं 'भाव' का भी भाव और 'अभाव' का भी अभाव होता है?"

(२२) अनित्यसम—

"साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसङ्गात् अनित्यसमः"

—न्या० सू० ५।१।३२

मान लीजिये, पूर्वोक्त अनुमान (*शब्दोऽनित्यः*) का कोई इस तरह खण्डन करता है—

"अनित्य घट के साधर्म्य से जब शब्द की अनित्यता सिद्ध होती है तब सभी पदार्थों की अनित्यता क्यों नहीं सिद्ध हो सकती? क्योंकि सभी पदार्थों के साथ घट का कुछ न कुछ साधर्म्य तो है ही। कम से कम '*सत्ता*' धर्म (*होना*) तो सब पदार्थों में समान है। ऐसी स्थिति में सत्तागुणयुक्त घट के साधर्म्य से हम '*आत्मा*' और '*आकाश*' को भी अनित्य क्यों नहीं मानें?

यह '*अनित्यसम*' का उदाहरण हुआ।

नोट—इसके उत्तर में नैयायिक कहते हैं कि केवल साधर्म्य से साध्य की उपपत्ति नहीं होती। साध्य-साधक भाव रहना भी आवश्यक है। 'कृतकत्व' में अनित्यता की साधकता है, 'सत्ता' में नहीं। अतएव सत्तागुणविशिष्ट प्रत्येक पदार्थ में अनित्यता की सिद्धि नहीं हो सकती।

(२३) नित्यसम—

"नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसमः"

—न्या० सू० ५।१।३५

मान लीजिये, पूर्वोक्त अनुमान (*शब्दोऽनित्यः*) पर कोई यह प्रश्न करता है—

"तुम्हारी प्रतिज्ञा है कि '*शब्द अनित्य है*।' अब यह बताओ कि शब्द की यह *अनित्यता* नित्य है या अनित्य ? अगर कहो कि अनित्य, तब तो अनित्यता के अभाव से शब्द नित्य सिद्ध हो जायगा। और यदि कहो कि नित्य, तब भी धर्म के नित्य होने से धर्मी (शब्द) को नित्य मानना पड़ेगा।"

यह '*अनित्यसम*' का उदाहरण हुआ।

नोट—इसका उत्तर यों दिया जा सकता है कि हमें तो 'शब्द' की अनित्यता सिद्ध करने से प्रयोजन है। 'अनित्यता' की नित्यता या अनित्यता का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये यह सवाल ही गलत है।

(२४) कार्यसम—

"*प्रयत्नकार्यानेकत्वात् कार्यसमः*"

—न्या० सू० ५।१।३७

शब्द वाले अनुमान को ले लीजिये।

"*शब्दोऽनित्यः प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्*।"

(अर्थात् *प्रयत्न* के अनन्तर शब्द का भाव होता है, अतएव वह अनित्य है।)

इसका खण्डन प्रयत्न कार्य की अनेकरूपता दिखला कर यों किया जाता है—

"प्रयत्न के अनन्तर अविद्यमान वस्तु की भी उत्पत्ति होती है (जैसे घट का निर्माण) और विद्यमान वस्तु की भी अभिव्यक्ति होती है (जैसे, भूगर्भ से जल निकालना)। प्रयत्न साध्य होने से ही किसी वस्तु का प्रागभाव सिद्ध नहीं होता (अर्थात् यह नहीं कहा जा सकता कि वह पहले से विद्यमान नहीं है)। अतएव *प्रयत्नानन्तरभावित्व* हेतु देकर शब्द की अनित्यता सिद्ध नहीं की जा सकती।"

यह '*कार्यसम*' प्रत्यवस्थान का उदाहरण हुआ।

नोट—इसका उत्तर नैयायिक यह देते हैं कि प्रयत्न के द्वारा अभिव्यक्ति वहीं होती है जहाँ पहले किसी व्यवधान के कारण अनुपलब्धि रहती है। भूगर्भस्थ जल और हमारे बीच में व्यवधान है, अतएव उसकी उपलब्धि तबतक नहीं होती जबतक व्यवधान दूर नहीं किया जाय। इसी तरह आवृत आकाश का आवरण हटा देने से उसकी अभिव्यक्ति होती है। किन्तु शब्द में तो सो बात है ही नहीं। उसकी अनुपलब्धि आवरणजन्य नहीं है, अतः अभावजन्य है। तब उसे पहले से विद्यमान कैसे माना जा सकता है ? अतः प्रयत्न के द्वारा शब्द की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि उत्पत्ति होती है। इसलिये वह अनित्य सिद्ध होता है।

———

निग्रहस्थान

[निग्रहस्थान का अर्थ—निग्रहस्थान के प्रभेद—प्रतिज्ञाहानि—प्रतिज्ञान्तर—प्रतिज्ञाविरोध—प्रतिज्ञासंन्यास—हेत्वन्तर—अर्थान्तर—अपार्थक—निरर्थक—अविज्ञातार्थ—अज्ञान—अननुभाषण—न्यून—अधिक—अप्राप्तकाल—पुनरुक्त—अप्रतिभा—विक्षेप—मतानुज्ञा—पर्यनुयोज्योपेक्षण—निरनुयोज्यानुयोग—अपसिद्धान्त—हेत्वाभास]

निग्रहस्थान का अर्थ—निग्रहस्थान का अर्थ है "*निग्रहस्य पराजयस्य (खलीकारस्य वा) स्थानम्*" अर्थात् हार या तिरस्कार की जगह।

शास्त्रार्थ में जो-जो अवस्थाएँ पराजय की सूचक हैं, जिन-जिन बातों से वादी को अपने मुँह की खानी पड़ती है और निन्दाभाजन बनना पड़ता है, उन्हें '*निग्रहस्थान*' कहते हैं। निग्रहस्थान का अर्थ है *निन्दा या तिरस्कार का स्थल*। जिस स्थल पर पहुँचने से हार समझी जाय और भर्त्सना सहनी पड़े, उसीका नाम निग्रहस्थान है।

गौतम '*निग्रहस्थान*' की यों परिभाषा करते हैं—

"*विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्*"

—न्या. सू. १।१।१९

अर्थात् अपने पक्ष का प्रतिपादन अनुचित रूप से, नियम के विरुद्ध, करना (*विप्रतिपत्ति*), अथवा अपने पक्ष का प्रतिपादन नहीं कर सकना (*अप्रतिपत्ति*), '*निग्रहस्थान*' कहलाता है। मान लीजिये, प्रतिवादीने आपके पक्ष में जो दोष दिखलाये हैं उनका उद्धार आप नहीं कर सकते अथवा उसके प्रतिपादित पक्ष का खण्डन नहीं कर सकते तो आप निग्रहस्थान में चले जाते हैं (अर्थात् पराजित समझे जाते हैं)।

निग्रहस्थान के प्रभेद—गौतम निम्नोक्त बाईस प्रकार के निग्रहस्थान बतलाते हैं—

(१) *प्रतिज्ञाहानि*

(२) *प्रतिज्ञान्तर*

(३) *प्रतिज्ञाविरोध*

(४) *प्रतिज्ञासंन्यास*

(५) हेत्वन्तर
(६) अर्थान्तर
(७) निरर्थक
(८) अविज्ञातार्थ
(९) अपार्थक
(१०) अप्राप्तकाल
(११) न्यून
(१२) अधिक
(१३) पुनरुक्त
(१४) अननुभाषण
(१५) अज्ञान
(१६) अप्रतिभा
(१७) विक्षेप
(१८) मतानुज्ञा
(१९) पर्यनुयोज्योपेक्षण
(२०) निरनुयोज्यानुयोग
(२१) अपसिद्धान्त
(२२) हेत्वाभास ।

अब प्रत्येक का लक्षण और उदाहरण दिया जाता है ।

(१) प्रतिज्ञाहानि—

"प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः"

—न्या. सू. ५ । २ । २

अपने दृष्टान्त में प्रतिकूल दृष्टान्त का धर्म मानलेने को '*प्रतिज्ञाहानि*' कहते हैं। अर्थात् अपने पक्ष में परपक्ष के धर्म को स्वीकार करने से '*प्रतिज्ञाहानि*' होती है।

किसीने प्रतिपादन किया—"शब्द अनित्य है (*प्रतिज्ञा*), इन्द्रिय का विषय होने के कारण (*हेतु*), घट के समान (*दृष्टान्त*)।"

अब इसपर प्रतिपक्षी प्रतिकूल दृष्टान्त देकर खण्डन करता है—

"*सामान्य* (गोत्व आदि जाति) भी तो इन्द्रिय का विषय है तो भी वह नित्य है। ऐसे ही शब्द भी नित्य होगा।"

इस पर वादी कहता है—"*यदि जाति नित्य है तो घट भी नित्य हो।*" ऐसा कहने से अपने दृष्टान्त (*घट*) में प्रतिदृष्टान्त का धर्म (*नित्यता*) मानलेना पड़ता है। यानी अपने पक्ष का त्याग और प्रतिवादी के पक्ष का स्वीकार हो जाता है। अपना पक्ष छोड़ना अपनी प्रतिज्ञा को छोड़ना है, क्योंकि प्रतिज्ञा ही को लेकर तो पक्ष है। अतएव यहाँ वादी *प्रतिज्ञाहानि* नामक निग्रहस्थान में पड़कर पराजित समझा जायगा।

(२) प्रतिज्ञान्तर—

"*प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात् तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम्*"

—न्या. सू. ५।२।३

प्रतिपाद्य विषय का खण्डन हो जाने पर उससे विशिष्ट प्रतिज्ञा का आश्रय लेना '*प्रतिज्ञान्तर*' कहलाता है।

पूर्वोक्त उदाहरण को ले लीजिये। वादी घट का दृष्टान्त देकर शब्द की अनित्यता का प्रतिपादन करता है। प्रतिवादी '*जाति*' (*सामान्य*) का प्रतिदृष्टान्त देकर उसके प्रतिपादित अर्थ का प्रतिषेध करता है। इस पर वादी कहने लगता है—

"हाँ, इन्द्रिय-विषय होते हुए भी जाति नित्य है। किन्तु वह सर्वगत है इसलिये नित्य है। घट और शब्द सर्वगत नहीं हैं, इसलिये अनित्य हैं।"

अब यहाँ वादी ने दूसरी प्रतिज्ञा का आश्रय लिया कि '*शब्द सर्वगत नहीं है*'। उसकी पहली प्रतिज्ञा थी कि '*शब्द अनित्य है।*' इसकी सिद्धि के लिये उसे साधक हेतु और दृष्टान्त का आश्रय लेना चाहिये था, न कि एक दूसरी प्रतिज्ञा का। अपनी पूर्व प्रतिज्ञा को हेतु-दृष्टान्त द्वारा सिद्ध नहीं कर, वह दूसरी प्रतिज्ञा कर बैठता है। इसलिये उसका पूर्वपक्ष प्रतिपादित नहीं होता और वह पराजित समझा जाता है। इसको *प्रतिज्ञान्तर* नामक निग्रहस्थान कहते हैं।

(३) प्रतिज्ञाविरोध—

"*प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः।*"

—न्या. सू. ५।२।४

जहाँ प्रतिज्ञा और हेतु दोनों में परस्पर विरोध हो जाय, वहाँ '*प्रतिज्ञाविरोध*' नामक निग्रहस्थान समझना चाहिये।

उदाहरण—किसीने यह प्रतिपादन किया—

"द्रव्य गुण से भिन्न है (*प्रतिज्ञा*)। रूप आदि (गुण) से भिन्न पदार्थ की अनुपलब्धि होने से (*हेतु*)"

यहाँ प्रतिज्ञा और हेतु दोनों एक दूसरे के विरोधी हैं। यदि रूप आदि गुण से भिन्न पदार्थ की उपलब्धि नहीं होती तो द्रव्य की विभिन्नता कैसे सिद्ध होगी? और यदि द्रव्य विभिन्न है, तब भिन्नता की अनुपलब्धि कैसे सिद्ध होगी। अर्थात् प्रतिज्ञा मानते हैं तो हेतु कट जाता है और हेतु को लेते हैं तो प्रतिज्ञा कट जाती है। (यह उसी तरह हुआ जैसे कोई वकील उलटी बहस करने लगे और ऐसी युक्ति दे जिससे उसकी अपनी ही बात कट जाय)। इसको *प्रतिज्ञाविरोध* करते हैं।

(४) प्रतिज्ञासंन्यास—

"*पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः।*"

—न्या. सू. ५।२।५

पक्ष के खण्डित होने पर अपनी प्रतिज्ञा को छोड़ देना '*प्रतिज्ञासंन्यास*' कहलाता है। अर्थात् अपना पक्ष कट जाने पर यदि कोई अपनी बात से भागने लगे तो वहाँ '*प्रतिज्ञासंन्यास*' नामक निग्रहस्थान समझना चाहिये।

उदाहरण—किसीने प्रतिपादन किया—

"शब्द अनित्य है (*प्रतिज्ञा*)। इन्द्रिय का विषय होने से (*हेतु*)।"

अब इसपर दूसरा खण्डन करता है—

"जाति इन्द्रिय का विषय होते हुए भी अनित्य नहीं है। इसी तरह शब्द भी अनित्य नहीं है।"

अब वादी देखता है कि उसका पक्ष निषिद्ध ठहर गया। बस, चट कह उठता है—"वही तो मैं भी कहता हूँ। शब्द को अनित्य कौन कहता है?" अर्थात् अपनी प्रतिज्ञा को साफ मुकर कर कहता है कि वह बात तो मैंने कही ही नहीं थी। इसीको *प्रतिज्ञासंन्यास* कहते हैं।

(५) हेत्वन्तर—

"*अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम्*"

—न्या. सू. ५।२।६

यदि वादी का दिया हुआ हेतु असाधक प्रमाणित हो जाय (यानी उससे साध्य की सिद्धि न हो सके) और तब वह उस हेतु में और कोई विशेषण जोड़कर सिद्ध करना चाहे, तो यह '*हेत्वन्तर*' नामक निग्रहस्थान कहलाता है।

उदाहरण— मानलीजिये, कोई प्रतिपादन करता है—

"*शब्दोऽनित्यः ऐन्द्रियकत्वात्*"

"*शब्द अनित्य है, इन्द्रिय का विषय होने से।*" इसपर प्रतिवादी आक्षेप करता है कि *सामान्य* (*जाति*) भी तो इन्द्रिय का विषय है, किन्तु वह अनित्य कहाँ है?

अब वादी कठिनता में पड़ जाता है। क्योंकि *इन्द्रियविषयत्व* और *अनित्यत्व* के साहचर्य में व्यभिचार देखने में आता है। अतः दोनों में व्याप्ति का सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। अब दो ही मार्ग वादी के सामने हैं—

(१) या तो वह अपनी प्रतिज्ञा छोड़ दे।

(२) या कोई दूसरा हेतु देकर *जाति* के व्यभिचार का निवारण करे।

पहले मार्ग का अवलम्बन करने से वह प्रतिज्ञासंन्यास का दोषी हो जाता है। इसलिये वह दूसरे मार्ग का अवलम्बन करता है। अर्थात् उसने पहले जो सामान्य हेतु (*ऐन्द्रियकत्वात्*) दिया था उसमें अब नया विशेषण (*सामान्यवत्त्वे सति*) जोड़कर कहने लगता है—

'शब्दोऽनित्यः सामान्यवत्त्वे सति ऐन्द्रियकत्वात्'

अर्थात् इन्द्रिय का विषय और *सामान्य गुण* से युक्त होने के कारण शब्द अनित्य है। यहाँ "*सामान्यवत्त्वे सति*" ऐसा पद जोड़ देने से *जाति* का अपवाद हट जाता है, क्योंकि जाति तो स्वयं *सामान्य* है, उसमें *सामान्यवत्त्व* कैसे होगा? घट, पट आदि की जाति (घटत्व, पटत्व) होती है। स्वयं *जाति* (घटत्व आदि) की जाति क्या होगी?

इस विशिष्ट हेतु से प्रतिपक्षी द्वारा निर्देशित व्यभिचार दोष का परिहार तो हो जाता है, किन्तु पूर्व हेतु की साधकता नहीं रहती। क्योंकि सामान्य हेतु को छोड़कर *विशिष्ट हेतु* का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। अतएव यह "*हेत्वन्तर*" दोष कहलाता है।

(६) अर्थान्तर—

"*प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम्।*"

—न्या० सू० ५।२।७

प्रकृत अर्थ से (प्रस्तुत विषय से) सम्बन्ध न रखनेवाले अर्थ को "*अर्थान्तर*" कहते हैं।

जैसे किसी विषय के प्रतिपादन के लिये हेतु दृष्टान्त आदि देना आवश्यक है। उसके बदले यदि कोई दूसरी-दूसरी बातें कहने लगे (जो बिल्कुल अप्रासङ्गिक हों) तो *अर्थान्तर* नामक निग्रहस्थान जानना चाहिये।

उदाहरण—जैसे "*शब्द अनित्य है*" यह प्रतिपाद्य विषय है। और वादी यों लेकचर देने लगता है कि—"शब्द आकाश का गुण है। शब्द *ध्वन्यात्मक* और *वर्णात्मक* भेद से दो प्रकार का होता है। शब्द से *आप्तवाक्य* और *अनाप्तवाक्य* दोनों सूचित होते हैं। शब्द की महिमा शास्त्रों में वर्णित है। शब्द मधुर बोलना चाहिये। इत्यादि।"

ये सब बातें बिल्कुल अप्रासङ्गिक हैं। क्योंकि इनसे प्रकृत विषय (*शब्द की अनित्यता*) की सिद्धि में कुछ भी सहायता नहीं मिलती। सिद्ध करना कुछ और है और कहते हैं कुछ और। यह *अन्यद्भुक्तम् अन्यद्वान्तम्* न्याय कहलाता है। यदि वादी अपने साध्य के प्रतिपादन

में असमर्थ हो, इस तरह विषय से बहककर अप्रासङ्गिक भाषण करने लगे तो वह अर्थान्तर नामक निग्रहस्थान में पड़ जाता है।

(७) अपार्थक—

"पौर्वापर्यायोगात् अप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम्"

—न्या० सू० ५ । २ । १०

जिन शब्दों में पूर्वापर की कोई संगति नहीं हो, एक के साथ दूसरे का कुछ सम्बन्ध नहीं हो, उनका प्रयोग करना *अपार्थक* कहलाता है। अर्थात् यदि वादी अनापशनाप जो जी में आवे बकने लगे, जिससे कुछ भी विशेष अर्थ का नहीं बोध हो, तो वह '*अपार्थक*' नामक निग्रहस्थान में जा पड़ता है।

उदाहरण—जैसे, वादी यों अंटसंट बकने लगे कि "बकरी के नेत्र में परस्मैपद धातु है—कमल का पुत्र दाड़िम समवाय कारण है—चावल का साग नित्य है—इत्यादि" तो इनसे कुछ भी अभिप्राय नहीं निकलता। *कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानुमती ने कुनबा जोड़ा।* इसको *अपार्थक* कहते हैं।

(८) निरर्थक—

"वर्णक्रम निर्देशवन्निरर्थकम्"

—न्या० सू० । ५ । २ । ८

'कखगघ' कहने से कुछ भी अर्थ नहीं निकलता। अर्थात् इन अक्षरों के जोड़ने से जो शब्द बनता है, वह बिल्कुल निरर्थक है। यदि इसी प्रकार के निरर्थक शब्दों को बका जाय तो वह '*निरर्थक*' नामक निग्रहस्थान कहलाता है।

उदाहरण—यदि वादी ऐसा बकने लगे—

"शब्द नित्य है, क्योंकि *कचटपथ, जबगड़द* होता है झभञ की तरह"

तो सिवा पागल के प्रलाप के इसे और क्या कहा जा सकता है? इसको *निरर्थक* कहते हैं।

(९) अविज्ञातार्थ—

"परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम्।"

—न्या० सू० ५।२।९

वादी के तीन-तीन बार बोलने पर भी यदि उसका अर्थ प्रतिवादी और सभा को नहीं जान पड़े तो वहाँ '*अविज्ञातार्थ*' नामक निग्रहस्थान होता है।

अर्थात् वादी यदि धाँधली देकर प्रतिवादी को परास्त करने की इच्छा से इस तरह जल्दी-जल्दी बोले या अस्पष्ट उच्चारण करे अथवा जान-बूझकर अप्रचलित और श्लेषयुक्त

(दुमानिया) शब्दों का प्रयोग करे या ऐसी जटिल और दुर्बोध भाषा का प्रयोग करे जिससे किसी की समझ में कुछ नहीं आवे तो वह (वादी) 'अविज्ञातार्थ' नामक निग्रहस्थान में जा पड़ता है। उसकी धाँधली नहीं चलती है। उलटे लेने के देने पड़ जाते हैं।

(१०) अज्ञान—

"अविज्ञातञ्चाऽज्ञानम् ।"

—न्या० सू० ५।२।१८

मान लीजिये, वादी ने अपने पक्ष का प्रतिपादन किया। सभा ने उसका अर्थ समझ लिया। किन्तु तीन-तीन बार कहने पर भी वह प्रतिवादी की समझ में नहीं आया। और जब उसकी समझ में नहीं आया तब वह खण्डन क्या करेगा ?

ऐसी स्थिति में 'अज्ञान' नामक निग्रह-स्थान में पड़कर प्रतिवादी परास्त समझा जायगा।

(११) अननुभाषण—

"विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्यनुच्चारणमननुभाषणम् ।"

—न्या० सू० ५।२।१६

अर्थात् वादी के द्वारा तीन तीन बार प्रतिपादन किया गया। सभा उसका अर्थ अच्छी तरह समझ गई। तो भी सब कुछ सुनकर (और शायद समझ कर भी) यदि प्रतिवादी चुप्पी साध ले, तो वह 'अननुभाषण' नामक निग्रह-स्थान में जा पड़ता है। जब वह खण्डन ही नहीं करता तब वादी की एकतरफा जीत हो जाती है और प्रतिवादी हारा हुआ समझा जाता है।

(१२) न्यून—

"हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् ।"

—न्या० सू० ५।२।१२

अर्थात किसी अवयव से हीन, अपूर्ण प्रतिपादन को न्यून कहते हैं। अनुमान के जो पञ्चावयव (१ प्रतिज्ञा, २ हेतु, ३ उदाहरण, ४ उपनय, ५ निगमन) होते हैं, उनमें से किसी को छोड़ देने से 'न्यून' नामक दोष आ जाता है।

(१३) अधिक—

'हेतूदाहरणाऽधिकमधिकम्"

—न्या० सू० ५।२।१३

जिसमें हेतु और उदाहरण का आधिक्य हो वह 'अधिक' कहलाता है। जब एक ही हेतु और उदाहरण से कार्य सिद्ध हो सकता है, तब अनेक हेतुओं और उदाहरणों का

आश्रय लेना अनावश्यक है। ऐसा करने से जो दोष आ जाता है उसे 'अधिक' नामक निग्रहस्थान कहते हैं।

नोट—यथार्थतः यह कोई दोष नहीं। केवल नियम-रक्षार्थ इसका निषेध किया गया है।

(१४) अप्राप्तकाल—

"अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम्।"

—न्या० सू० ५।२।११

अनुमान के जो पाँचों अवयव हैं, उनका निर्दिष्ट क्रम के अनुसार ही प्रयोग करना चाहिये (जैसे, पहले *प्रतिज्ञा* तब *हेतु* इत्यादि)। इस क्रम का भङ्ग करने से, अर्थात् जो ठीक सिलसिला है उसमें उलट-फेर करने से, '*अप्राप्तकाल*' नामक निग्रहस्थान होता है।

(१५) पुनरुक्त—

"शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तम् (अन्यत्रानु वादात्)"

—न्या० सू० ५।२।१४

एक ही विषय को बार-बार कहना '*पुनरुक्त*' दोष कहलाता है। हाँ, जहाँ पुनरावृत्ति की (दुबारा करने की) आवश्यकता है वहाँ यह दोष नहीं लगता। जैसे खण्डन करने के पूर्व प्रतिवादी वादी के पक्ष का '*अनुवाद*' करता है (अर्थात् उसे दुहराता है)। वहाँ दोष नहीं है।

इसी तरह अर्थ की विशेष प्रतिपत्ति के लिये शब्दों का पुनर्वचन करने में दोष नहीं है। जैसे, हेतु के अपदेश से 'प्रतिज्ञा' का पुनर्वचन 'निगमन' में करना पड़ता है। किन्तु जहाँ कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता हो, तहाँ उसी बात को बार-बार दुहराना *पिष्टपेषण* या *चर्वित चर्वण* के समान निष्फल और अतएव दोषपूर्ण है। ऐसा करने से वक्ता '*पुनरुक्त*' नामक निग्रहस्थान में पड़ जाता है।

(१६) अप्रतिभा—

"उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा"

—न्या० सू० ५।२।१९

यदि समय पर उत्तर की स्फूर्त्ति नहीं होती (अर्थात् कोई उत्तर नहीं सूझता) तो उसे '*अप्रतिभा*' कहते हैं। उत्तर का अर्थ है परपक्ष का निषेध अथवा शंका-समाधान। यदि वादी या प्रतिवादी की बुद्धि ऐसी कुण्ठित हो जाय कि उसे प्रतिपक्ष के खण्डन में कुछ भी उत्तर नहीं सूझे तो वह इस निग्रहस्थान में पड़कर पराजित समझा जाता है।

(१७) विक्षेप—

"कार्यव्यासङ्गात् कथाविच्छेदो विक्षेपः।"

—न्या० सू० ५।२।२०

जहाँ वादी या प्रतिवादी विवाद के बीच में हठात् दूसरे कार्य का बहाना कर बहस बन्द कर दे, वहाँ '*विक्षेप*' नामक निग्रहस्थान समझा जाता है। जैसे, प्रतिवादी ने देखा कि अब परास्त होने में देर नहीं है। बस, वह कहने लगता है—"अब मुझे इस समय अवकाश नहीं है" अथवा "जरा मैं शौच से हो आता हूँ" अथवा "मेरे सिर में कुछ दर्द होने लग गया है; अब आराम करने जाऊँगा।" यदि वह ऐसा कह कर सभा से उठ जाता है, तो उपर्युक्त निग्रहस्थान में पड़कर परास्त समझा जाता है।

(१८) मतानुज्ञा—

"स्वपक्षदोषाऽभ्युपगमात् परपक्षदोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा"

—न्या० सू० ५।२।२१

अपने पक्ष में जो दोष निकाला जाय उसका उद्धार नहीं कर दूसरे में भी दोष निकालना '*मतानुज्ञा*' कहलाता है। किन्तु दूसरे का दोष दिखाने से अपने दोष का शमन तो नहीं होता। यह तो वैसा ही हुआ जैसे "*मैं काना हूँ तो राजा का कोतवाल भी काना है।*" इसलिये अपने दोष का उद्धार नहीं कर जो प्रतिपक्षी में दोष निदर्शन करने लगता है वह इस निग्रहस्थान का भागी होता है।

(१९) पर्यनुयोज्योपेक्षण—

"निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम्"

—न्या० सू० ५।२।२२

प्रतिपक्षी के निग्रहस्थान में प्राप्त हो जाने पर भी उसका निग्रह न करना (अर्थात् दोष का उद्घाटन नहीं कर सकना) '*पर्यनुयोज्योपेक्षण*' कहलाता है। यद्यपि जय-पराजय की व्यवस्था देना सभा या मध्यस्थ का कार्य है, तथापि दोष का निदर्शन करना वादी-प्रतिवादी का ही कर्त्तव्य है। जो ऐसा नहीं कर सकता वह स्वयं निग्रहस्थान में पड़कर दोषभाजन बनता है।

(२०) निरनुयोज्यानुयोग—

"अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः"

—न्या० सू० ५।२।२३

यदि झूठमूठ निग्रहस्थान का दोषारोपण किया जाय, तो वह '*निरनुयोज्यानुयोग*' कहलाता है। आप अपने विषय का समीचीन रूप से प्रतिपादन कर रहे हैं। तो भी

आपका प्रतिपक्षी कहता है कि आप निग्रहस्थान में हैं। ऐसा मिथ्याभियोग करने से वह स्वयं निग्रहस्थान में पड़ जाता है।

नोट—'*पर्यनुयोज्योपेक्षण*' का अर्थ है दोष की उपेक्षा करना (उसमें अदोष देखना)।
'*निरनुयोज्यानुयोग*' उसका ठीक उलटा है—अर्थात् अदोष में दोष की उद्भावना।

(२१) अपसिद्धान्त—

"*सिद्धान्तमभ्युपेत्याऽनियमात्कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः*"

—न्या० सू० ५।२.२४

किसी सिद्धान्त को मानकर फिर उसके विरुद्धमत का अवलम्बन करना '*अपसिद्धान्त*' कहलाता है।

जैसे, वेदान्तियों का सिद्धान्त है कि '*सत् का अभाव और असत् का भाव नहीं होता।*' यदि इस सिद्धान्त को मानते हुए भी कोई वेदान्ती अनुत्पन्न वस्तु की उत्पत्ति और उत्पन्न वस्तु के विनाश का प्रतिपादन करने लगे तब वह *अपसिद्धान्त* नामक निग्रहस्थान में पड़ जायगा।

(२२) हेत्वाभास—

"*असाधकः हेतुत्वेनाभिमतः हेत्वाभासः*"

जो देखने में तो हेतु के ऐसा जान पड़े किन्तु यथार्थतः हेतु (साध्य का साधक) नहीं हो उसे '*हेत्वाभास*' कहते हैं। जब कोई वादी या प्रतिवादी ऐसे मिथ्या हेतु का आश्रय ग्रहण करता है, तब वह '*हेत्वाभास*' नामक निग्रहस्थान में जा पड़ता है।

हेत्वाभास का सविस्तर परिचय पहले ही दिया जा चुका है। अतः यहाँ दुहराना अनावश्यक है।

ईश्वर

[न्याय में ईश्वर का स्थान—ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण—ईश्वर विषयक शंका-समाधान—उदयनाचार्य की युक्तियाँ—ईश्वर का स्वरूप ।]

न्याय में ईश्वर का स्थान—

न्याय आस्तिक दर्शन है। **नैयायिक** गण **ईश्वर** को *'जगन्नियन्ता'* तथा *'कर्मफलदाता'* मानते हैं।

गौतम ने निम्नलिखित सूत्र में ईश्वर का उल्लेख किया है—

"ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्"

—न्या. सू. ४।१।१९

यहाँ प्रश्न यह है कि सुख-दुःख रूपी फल का दाता कौन है? इस सम्बन्ध में सूत्रकार एक पक्ष यों उपस्थित करते हैं—

"यदि कर्म ही के अधीन फल रहता तो कर्म करने के साथ ही फल मिल जाता। किन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। लोग कर्म करते हैं, किन्तु उसका फल लगे हाथ नहीं मिलता। इससे सूचित होता है कि कर्मफल की प्राप्ति किसी और के अधीन है। जिसके अधीन है, वह ईश्वर है।"*

किन्तु अगले सूत्र में इस पक्ष का खण्डन किया गया है—

न, पुरुषकर्माभावे फलनिष्पत्तेः

—न्या. सू. ४।१।२०

यदि फल देना केवल ईश्वर के हाथ में ही रहता तो फिर कर्म करने की क्या आवश्यकता होती? बिना कर्म के ही ईश्वर फल दे देते। किन्तु ऐसा नहीं होता। कर्म के अभाव में फल की निष्पत्ति नहीं होती। इससे सिद्ध है कि केवल ईश्वरेच्छा-मात्र फलप्रदान का कारण नहीं हो सकती। †

---

* पुरुषोऽयं समीहमानः नावश्यं समीहाफलं प्राप्नोति तेनानुमीयते पराधीनं पुरुषस्य कर्मफलाराधनमिति, यदधीनं स ईश्वरः तस्मादीश्वरः कारणमिति। —वा० भा०

† ईश्वराधीना चेत्फलनिष्पत्तिः स्यादपि तर्हि पुरुषस्य समीहामन्तरेण फलं निष्पद्येत। —वा० भा०

इसलिये फल न तो केवल कर्म के अधीन है, न केवल ईश्वर के अधीन। कर्म स्वतः फल संपादित नहीं करता और ईश्वर स्वतः अपनी इच्छा के अनुसार फल नहीं देता। कर्म के अनुसार ही ईश्वर फल प्रदान करता है।

अतः सिद्धान्त यह हुआ कि फल की सिद्धि *पुरुषकार* और *ईश्वर* दोनों ही पर निर्भर है। दूसरे शब्दों में यों कहिये कि *कर्म* और *फल* का *संयोजक ईश्वर* होता है। †

भाष्यकार वात्स्यायन 'ईश्वर' की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

"आप्तकल्पश्चायं यथा पिताऽपत्यानां तथा पितृभूत ईश्वरो भूतानाम्।
न चात्मकल्पादन्यः कल्पः सम्भवति।
न तावदस्य बुद्धिं विना कश्चिद्धर्मो लिङ्गभूतः शक्यः उपपादयितुम्।
आगमाच्च द्रष्टा बोद्धा सर्वज्ञाता ईश्वर इति।"

—वा. भा.

अर्थात् "ईश्वर जगत्पिता है। सृष्टि के यावतीय नियम उसकी अनन्त बुद्धि के परिचायक हैं। संसार की विलक्षण रचना-चातुरी विश्वनियन्ता की असीम बुद्धि का प्रमाण है। ईश्वर की सहायता के विना सृष्टि का उपपादन नहीं हो सकता। श्रुति-प्रमाण-द्वारा भी ईश्वर का सर्वज्ञ, अन्तर्यामी तथा अनन्तबुद्धिशाली होना सिद्ध है।"

\+ \+ \+ \+

जैसे-जैसे **न्यायशास्त्र** का प्रसार होता गया, तैसे-तैसे **ईश्वर** विषयक विवेचना भी बढ़ती गई। विशेषतः जब **बौद्धों** ने *नास्तिक* मत का प्रचार करना आरम्भ किया, तब **नैयायिकों** को भी युक्ति-द्वारा *आस्तिकवाद* का समर्थन करना अत्यावश्यक हो उठा। इन न्यायाचार्यों में सबसे अग्रगण्य हैं **उदयनाचार्य**। इन्होंने अपनी *न्यायकुसुमाञ्जलि* में बड़ी योग्यता के साथ ईश्वर का प्रतिपादन किया है। इनकी यह गर्वोक्ति प्रसिद्ध है—

"ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे
उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः।"

ये ईश्वर को सम्बोधन कर दर्प के साथ कहते हैं—"तुम अपने ऐश्वर्य के मद में फूले मुझे भूल बैठे हो, मेरी परवाह नहीं करते। पर याद रखो, बौद्धों के बीच में तुम्हारी रक्षा करनेवाला मैं ही हूँ। *यदि मेरा अस्तित्व तुम्हारे अधीन है, तो तुम्हारा अस्तित्व भी मेरे अधीन है।"*

---

† पुरुषकारमीश्वरोऽनुगृह्णाति फलाय पुरुषस्य यतमानस्येश्वरः फलं सम्पादयति।

—वा. भा.

ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण—

नैयायिक गण **जगत्कर्त्ता** का अस्तित्व सिद्ध करने के लिये सामान्यतः निम्नलिखित अनुमान का आश्रय लेते हैं —

क्षित्यादिकं सकर्त्तृकम्

कार्यत्वात्

घटवत्

अर्थात् घट-पट आदि जितने कार्य द्रव्य हैं, वे सब स्वतः नहीं बन जाते; उन्हें बनाने वाला कोई निमित्त कारण (कर्त्ता) होता है। घट-निर्माण के लिये कुम्भकार की आवश्यकता होती है; पट-निर्माण के लिये तन्तुवाय की अपेक्षा होती है। जिस प्रकार घट-पट की उत्पत्ति के लिये कर्त्ता का होना आवश्यक है, उसी प्रकार इस जगत् की उत्पत्ति के लिये भी किसी कर्त्ता का होना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में यों कहिये कि —

समस्त कार्यों की उत्पत्ति कर्त्ता के द्वारा होती है,

जगत् भी कार्य है,

इसलिये जगत् की उत्पत्ति कर्त्ता के द्वारा होती है

इस तरह **जगत्कर्त्ता** का अनुमान होता है।*

उपर्युक्त अनुमान के विरुद्ध यह दलील पेश की जा सकती है कि यहाँ "*जगत् का कार्य होना*" यों ही विना किसी प्रमाण के मान लिया गया है। यदि जगत् का कार्यत्व मान लिया जाय तब तो उसका कर्त्ता आप ही सिद्ध हो जाता है। इसलिये जो हेतु यहाँ दिया गया है वह स्वयं *असिद्ध* (*साध्यसम*) होने के कारण *हेत्वाभास* मात्र है।

इस आक्षेप का निराकरण करने के लिये नैयायिकों ने एक युक्ति ढूँढ़ निकाली है। उनका कहना है कि '*जगत् का कार्य होना*' यह हेतु सिद्ध है। कार्य का लक्षण है *सावयवत्व*। घट, पट आदि द्रव्य *सावयव* हैं। अतएव वे कार्य की श्रेणी में हैं। जिस द्रव्य के भाग नहीं हो सकें अर्थात् जो भिन्न-भिन्न अवयवों के संयोग से नहीं बने हैं, वे कार्य नहीं हैं। ऐसे द्रव्य हैं— *परमाणु* और *आकाश*। ये दोनों अनादि और नित्य हैं। इन्हें किसीने बनाया नहीं। ये स्वतः शाश्वत रूप से वर्त्तमान हैं। इनके अतिरिक्त जितनी भी वस्तुएँ हैं, वे

* कार्यत्वाद्घटवच्चेति जगत्कर्त्तानुमीयते।

—स० सि० सं०

सावयव हैं और अतएव उन्हें *कार्य* कहना चाहिये। मिट्टी, पत्थर, घड़ा, दीवाल आदि सभी द्रव्य *संयोगजन्य* होने के कारण *'कार्य'* हैं।

परमाणु (*लघुतम परिमाण*) और आकाश (*महत्तम परिमाण*) के बीच जितने *अवान्तर परिमाण* (Intermediate Magnitude) वाले द्रव्य हैं, (द्वयणुक से लेकर विशाल पर्वत पर्यन्त) वे सभी सावयव होने के कारण कार्य हैं। समय-विशेष में उनकी उत्पत्ति किसी विशेष प्रेरणाशक्ति (Initiative force) के द्वारा हुई। परमाणु आकाश की तरह वे अनादि और स्वयंभू नहीं माने जा सकते। *सादि* होने के कारण उनका *कार्यत्व* स्पष्ट है। *

संसार में जितनी भी वस्तुएँ दृष्टिगोचर होती हैं, उन सबमें भिन्न-भिन्न अवयवों के संयोग पाये जाते हैं। अतएव संसार निःसन्देह कार्य की कोटि में आ जाता है।

संक्षेपतः **नैयायिकों** की युक्ति इस प्रकार है—

जो जो सावयव पदार्थ हैं वे सभी कार्य हैं, यथा घट, पट, कुड्य (दीवाल) आदि।

जगत् (पृथ्वी प्रभृति) सावयव है।

इसलिये जगत् कार्य पदार्थ है।

जैसा *सर्वसिद्धान्तसंग्रह* में कहा गया है—

"*कार्यत्वमप्यसिद्धञ्चेत्क्ष्मादेः सावयवत्वतः।*
घटकुड्यादिवच्चेति कार्यत्वमपि साध्यते।

निष्कर्ष यह कि जिस प्रकार भिन्न-भिन्न अवयवों के संयोग से निर्मित घट कुलाल (कुम्हार) का कार्य है, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न अवयवों के संयोग से बने हुए पहाड़ समुद्र प्रभृति भी किसी *'ब्रह्माण्डकुलाल'* के कार्य हैं। विश्व की अद्भुत रचना को देखकर मालूम होता है कि इसका बनानेवाला अनन्त ज्ञान का भंडार है; किसी विषय का ज्ञान उससे छूटा नहीं।†

यहाँ एक शंका की जा सकती है। "पर्वत समुद्र आदि को किसीने बनाया" इसका क्या प्रमाण? यदि आकाश की तरह उन्हें भी स्वयंभू मान लिया जाय तो क्या हर्ज है? मान लीजिये प्रतिपक्षी यों कहता है—

"पर्वत समुद्रादि अकर्तृक हैं (अर्थात् उनका बनानेवाला कोई नहीं)

क्योंकि वे कार्य नहीं है (अर्थात् वे किसी समयविशेष में उत्पन्न नहीं होकर शाश्वत रूप से वर्तमान हैं) जैसे आकाश।"+

---

* अवान्तर महत्त्वेन वा कार्यत्वानुमानस्य सुकरत्वात्। —स० द० सं०।

† भूर्भूधरादिकं सर्वं सर्वविद्धेतुकं मतम्। —स० सि० सं०।

+ नगसागरादिकमकर्तृकम्।
अजन्यत्वात्। गगनवत्।

इसके उत्तर में नैयायिक कहेंगे कि '*पर्वतादि का अकार्य (उत्पत्तिरहित) होना*' जो हेतु यहाँ दिया गया है, वह *असिद्ध* होने के कारण अप्रमाण है। पर्वत की रचना कभी हुई ही नहीं यह जानने के लिये कोई प्रमाण नहीं है। * आकाश का दृष्टान्त यहाँ लागू नहीं होता। क्योंकि आकाश निरवयव होने के कारण अनादि माना जाता है, किन्तु पर्वत *सावयव* है। इसलिये अन्यान्य सावयव वस्तुओं की तरह इसे *सादि* मानना पड़ेगा। सादि होने से ही यह *कार्य* बन जाता है, और इस तरह कारण की अपेक्षा हो जाती है।

इस प्रकार *कार्य* (Effect) से *कारण* (Cause) का अनुमान कर **नैयायिक** गण **ईश्वर** की प्रतिपत्ति करते हैं। **नैयायिकों** का कहना है कि इस अनुमान में किसी प्रकार का दोष नहीं है।

जगत् सकर्तृक है, क्योंकि वह कार्य है, और जो-जो कार्य हैं सो-सो सकर्तृक हैं, यथा घट, पट।

यहाँ '*विरुद्ध हेतु*' की संभावना नहीं। क्योंकि लिङ्ग (*कार्यत्व*) और साध्य-विपर्यय (*अकर्तृकत्व*) में व्याप्ति सम्बन्ध नहीं है। † अर्थात्

" *जो-जो कार्य हैं सो-सो अकर्तृक हैं* " ऐसा नहीं कहा जा सकता।

यह हेतु '*अनैकान्तिक*' भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि यहाँ विपक्ष (साध्य के अभाव) में (*अकर्तृक वस्तुओं में*) लिङ्ग (*कार्यत्व*) की वृत्ति नहीं पाई जाती। ‡

यहाँ जो हेतु दिया गया है, वह '*असिद्ध*' कहकर भी हटाया नहीं जा सकता। क्योंकि '*जगत् का कार्य होना*' उसके '*सावयवत्व*' से सिद्ध है।

यह अनुमान '*सत्प्रतिपक्ष*' भी नहीं है। क्योंकि जगत् को अकर्तृक सिद्ध करनेवाला पक्ष देखने में नहीं आता। +

यह अनुमान '*बाधित*' भी नहीं है। क्योंकि किसी भी अन्य प्रमाण के द्वारा जगत् का सकर्तृकत्व नहीं कटता। ×

इस प्रकार पूर्वोक्त अनुमान सर्वथा निर्दोष तथा अखण्डनीय सिद्ध किया जाता है।

---

* अजन्यत्वं ह्युत्पत्तिराहित्यम्। तच्च नगसागरादिषु न केनापि प्रमाणेन साधयितुं शक्यते।

—स० द० स० टी०

† नापि विरुद्धो हेतुः। साध्यविपर्ययव्याप्तेरभावात्।

‡ नाप्यनैकान्तिकः। पक्षादन्यत्र वृत्तेरभावात्।

+ नापि सत्प्रतिपक्षः। प्रतिभटादर्शनात्।

× नापि कालात्ययापदिष्टः। बाधकानुपलम्भात्।

ईश्वरविषयक शंकासमाधान —

अब नैयायिकों के मतानुसार ईश्वरविषयक कुछ शंकासमाधान दिये जाते हैं।

(१) शंका—मान लिया जाय कि जगत् सकर्त्तृक है। उसे बनानेवाला कोई कर्त्ता है। किन्तु वह कर्त्ता ईश्वर ही है, इसका क्या प्रमाण ?

समाधान—इस शंका का समाधान करते हुए उदयनाचार्य कहते हैं—

"आगमादेः प्रमाणत्वे बाधनादनिषेधनम्।
आभासत्वे तु सैव स्यादाश्रयासिद्धिरुद्धता।"

—कुसुमाञ्जलि ३।५

"ईश्वरविषयक प्रश्न जो आप उठाते हैं तो उस ईश्वर का ज्ञान आपको कहाँ से प्राप्त हुआ ? श्रुति-ग्रन्थों से। उन ग्रन्थों को आप प्रामाणिक मानते हैं या नहीं। यदि नहीं, तब तो ईश्वर का अस्तित्व ही उड़ जाता है। फिर ईश्वर के कर्त्तृत्व वा अकर्त्तृत्व के विषय में विवाद कैसा ! *मूलं नास्ति कुतः शाखा !* जब आकाश में फूल ही नहीं खिलता तब यह विवाद कैसे उठ सकता है कि वह फूल लाल है या पीला ? इसलिये जब ईश्वर का अस्तित्व ही असिद्ध है, तब ऐसा अनुमान करना कि

"ईश्वर जगत्कर्त्ता नहीं है"

आश्रयासिद्ध होने के कारण अशुद्ध हो जायगा। *

यदि यह कहिये कि आगम (वेद) को प्रमाण मानते हैं तो फिर वही आगम तो आपको यह भी बतलाता है कि ईश्वर जगत् का कर्त्ता है। तब यदि आप ऐसा अनुमान करें कि—

ईश्वर जगत्कर्त्ता नहीं है

तो यह अनुमान वेद-प्रमाण के विरुद्ध पड़ जाने के कारण *बाधित* (खण्डित) हो जायगा। +

इस प्रकार उदयनाचार्य अपने प्रतिपक्षी को दो शिकंजों के बीच कसकर दुविधा (Dilemma) में डालते हैं। यदि ईश्वर वेद के द्वारा सिद्ध है तब तो उसी वेद के द्वारा ईश्वर का जगत्कर्त्ता होना भी सिद्ध है। और यदि वेद प्रमाणकोटि में नहीं है तब ईश्वर भी असिद्ध रह जाता है। फिर उसके विषय में यह चर्चा कैसी कि वह कर्त्ता है अथवा नहीं ?

---

* अथागमादि न प्रमाणं किन्तु प्रमाणाभास इति ईश्वरस्यासिद्धिरुच्यते तर्हि त्वदुक्तानुमाने पक्षासिद्धिर्नरीनर्त्ति। —स० द० सं० व्या०

+ यद्यागमादिप्रमाणेनेश्वरसिद्धिरुपगम्यते तर्हि तेनैव प्रमाणेनेश्वरस्य जगत्कर्त्तृत्वमप्यास्थेयं भवति। तथा च त्वदुक्तानुमानं बाधितं भवति। न तेन कर्त्तृत्वस्य निषेधो भवति। —स. द. सं. व्या.

नोट—न्यायशास्त्र में इस प्रकार के तर्क से बहुत अधिक काम लिया गया है। प्रतिपक्षी को ऐसे दो विकल्पों (alternatives) के बीच लाकर रख दिया जाता है कि उनमें किसी को भी स्वीकार करने से उसकी हार हो जाती है।*

(२) शंका—यदि ईश्वर कर्त्ता होता तो उसके शरीर भी रहता। किन्तु वेदोक्त प्रमाणों से विदित होता है कि ईश्वर *अशरीर* है। तब फिर वह *कर्त्ता* कैसे हो सकता है ? †

दूसरे शब्दों में यों कहिये कि—

जो अशरीर है सो कर्त्ता नहीं हो सकता यथा आकाश।

ईश्वर अशरीर है

अतएव ईश्वर कर्त्ता नहीं हो सकता।" ‡

इस शंका के समाधान में *नैयायिकों* का यह कहना है कि 'कर्तृत्व' के लिये केवल तीन बातों की आवश्यकता होती है—

(१) *ज्ञान (Knowledge)*

(२) *चिकीर्षा (Will)*

(३) *प्रयत्न (Effort)*

शरीर का होना 'कर्तृत्व' के लिये आवश्यक नहीं है। इसलिये 'कर्त्ता' की परिभाषा में '*शरीरयुक्त होना या न होना*' कोई महत्व नहीं रखता। न्याय शास्त्रानुसार 'कर्त्ता' की परिभाषा यों है—

"कर्तृत्वं चेतरकारकाप्रयोज्यत्वे सति सकलकारकप्रयोक्तृत्वलक्षणं ज्ञानचिकीर्षाप्रयत्नाधारत्वम्।"

निम्नलिखित लक्षण जिसमें पाये जायँ वह 'कर्त्ता' है—

(१) *साध्य (end) और साधन (means) का ज्ञान,*

(२) *साधन को काम में लाने की इच्छा,*

(३) *साध्य प्रातिनिमित्तक प्रयत्न (क्रिया)*

कर्त्ता अपनी इच्छा से कार्य के हेतु सकल साधनों का प्रयोग करता है। वह स्वतन्त्र +

---

* उभयथाऽप्यसुकरत्वम्।

† यद्दीश्वरः कर्त्ता स्यात्तर्हि शरीरी स्यात्

‡ ईश्वरो नगसागरादिकर्त्ता न भवति
शरीर रहितत्वात्
आकाशवत् —स. द. सं.

\+ स्वतन्त्रः कर्त्ता

होता है। जो पराधीन अर्थात् दूसरे का प्रयोज्य बनकर क्रिया में प्रवर्त्तित किया जाय, वह यथार्थ कर्त्ता नहीं कहला सकता।

इसलिये ईश्वर के कर्त्तृत्व-साधन के लिये इतना ही आवश्यक है कि वह स्वतन्त्र इच्छा से प्रवृत्त हो अपने ज्ञान की सहायता से सृष्टि रचना की क्रिया करे।

सर्वसिद्धान्तसंग्रहकार कहते हैं—

"अशरीरोऽपि कुरुते शिवः कार्यमिहेच्छया
देहानपेक्षं देहं स्वं यथा चेष्टयते जनः।"

अर्थात् शरीररहित होने पर भी ईश्वर अपनी इच्छा-शक्ति से सृष्टि-रचना का कार्य करता है। इच्छा होते ही हम हाथ को ऊपर उठा लेते हैं। या यों कहिये कि इधर मन में इच्छा हुई, उधर हाथ उठ जाता है। अपने शरीर को सञ्चालित करने के लिये केवल इच्छा मात्र ही पर्याप्त कारण है। यहाँ कार्यसम्पादन (स्वदेह सञ्चालन) के हेतु इच्छा को किसी शरीर की सहायता का प्रयोजन नहीं पड़ता। इच्छा स्वतः *निराकार* होते हुए भी *साकार* शरीर को प्रवर्त्तित करती है। यही इच्छा शक्ति कार्य की जननी है। मनुष्य सीमित ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न रखने के कारण सब कार्य नहीं कर सकता। किन्तु ईश्वर अनन्त ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न का भंडार है। इसलिये वह सब कुछ कर सकता है। सृष्टि की विशालता, विचित्रता और सुश्रृङ्खलता देखकर सहज ही में ईश्वर की *सर्वशक्तिमत्ता* और *सर्वज्ञता* का अनुमान किया जा सकता है। *शरीररहित होते हुए भी ईश्वर इच्छा, ज्ञान और प्रयत्न का आधार है* और इस तरह उसका कर्त्ता होना सिद्ध हो जाता है।

"इच्छा ज्ञान प्रयत्नाख्याः महेश्वरगुणास्त्रयः
शरीररहितेऽपि स्युः परमाणुस्वरूपवत्।"

—स. सि. सं.

(३) शंका—ईश्वर को *सृष्टिकर्त्ता* मान लेने पर भी यह प्रश्न उठता है कि आखिर सृष्टि की रचना उन्होंने *क्यों* की? *किस उद्देश्य से?* यदि यह कहा जाय कि सृष्टि-रचना में उनका कुछ प्रयोजन नहीं था, तो यह बात जँचती नहीं। बिना प्रयोजन के किसी कार्य में प्रवृत्ति नहीं होती। फिर इतना बड़ा सृष्टि-कार्य निरुद्देश्य हो, इस बात को बुद्धि कैसे स्वीकार कर सकती है?

"प्रयोजनमनुद्दिश्य न हि मन्दो प्रवर्त्तते
जगच्च सृजतस्तस्य किं नाम न कृतं भवेत्।"

—स. द. सं.

यदि ईश्वर की सृष्टि-रचना *साभिप्राय* मानी जाय तो फिर यह प्रश्न उठता है कि जगत् के निर्माण में ईश्वर की जो प्रवृत्ति हुई वह किस प्रयोजन से ? क्या वह प्रयोजन *स्वार्थमूलक* था अथवा *परार्थमूलक* ? यदि स्वार्थमूलक, तो *इष्टप्राप्ति* के *निमित्त* अथवा *अनिष्ट परिहार* के *निमित्त* ? यदि कहिये कि *इष्टप्राप्ति* के निमित्त, तो यह प्रश्न उठता है कि ईश्वर तो *पूर्ण* है, उसके लिये कौन ऐसी वस्तु अभीष्ट हो सकती है जिसका उसे पहले *अभाव* था ? और यदि अभाव था, तो वह *अपूर्ण* था और इसलिये 'ईश्वर' कहला ही नहीं सकता। अतएव इष्टप्राप्ति के निमित्त ईश्वर के प्रवृत्त होने की कल्पना *वदतो व्याघात दोष* (Self-contradiction) से युक्त होने के कारण अग्राह्य है। इसी तर्क के द्वारा *अनिष्ट परिहार* वाली कल्पना भी खण्डित हो जाती है।*

यदि यह कहा जाय कि ईश्वर का प्रयोजन *परार्थमूलक* है, अर्थात् उन्होंने सृष्टि अपने लिये नहीं बनाई; दूसरों के लिये बनाई, तो यह प्रश्न उठता है कि दूसरों के काम में प्रवृत्त होने की उन्हें जरूरत ही क्या थी ? अपना काम छोड़कर औरों के पीछे दौड़ना तो बुद्धिमान् का लक्षण नहीं है †

इस तरह स्पष्ट है कि यदि ईश्वर ने अपने किसी लक्ष्य की पूर्त्ति के लिये सृष्टि रचना की तो उनकी *पूर्णता* पर आघात पहुँचता है, और यदि उनका अपना कोई विशेष लक्ष्य नहीं था, तो उनकी *बुद्धि* पर आघात पहुँचता है। अतएव ईश्वर को जगत् का स्रष्टा कहना उन्हें *अपूर्ण* अथवा *मूर्ख* बनाना है।

समाधान—उपर्युक्त शंका के समाधान में **नैयायिकों** का यह कहना है कि—

"करुणया प्रवृत्तिरीश्वरस्य"

ईश्वर स्वभावतः दयालु है। *करुणावश* वह सृष्टि-कार्य में प्रवृत्त होता है।

यहाँ कुछ लोग यह शंका कर सकते हैं कि यदि ईश्वर इतना दयालु है—करुणा से प्रेरित होकर वह सृष्टि की रचना करता है—तो वह सभी प्राणियों को सुखी क्यों नहीं बनाता ? संसार में इतना दुःख और कष्ट क्यों है ? +

---

* परमेश्वरस्य जगन्निर्माणे प्रवृत्तिः किमर्था ? स्वार्था परार्था वा ? आद्येऽपीष्टप्राप्त्यर्थाऽनिष्टपरिहारार्था वा ? नाद्यः। अवाप्तसकलकामस्य तदनुपपत्तेः। अतएव न द्वितीयः।

† कः खलु परार्थं प्रवर्त्तमानं प्रेक्षावानिति आचक्षीत।

+ अथ करुणया प्रवृत्त्युपपत्तिरित्याचक्षीत कश्चित् तं प्रत्याचक्षीत। तर्हि सर्वान् प्राणिनः सुखिनः एव सृजेदीश्वरः। न दुःखशबलान्। करुणाविरोधात् स्वार्थमनपेक्ष्य परदुःखप्रहाणेच्छा हि कारुण्यम्।

—स द० सं०

इसके उत्तर में **नैयायिक** कहते हैं कि संसार में जो दुःख देखने में आता है वह सृष्ट प्राणियों की अपनी कमाई है। अपने किये हुए पाप-पुण्यों के अनुसार वे दुःख-सुख भोगते हैं। इसमें ईश्वर का क्या दोष ? जब जीवों के कर्म भिन्न-भिन्न है, तब फलों की विषमता भी अनिवार्य है। *इसलिये सांसारिक कष्टों को देखकर ईश्वर को निष्ठुर समझना भूल है।

यहाँ एक और कठिनाई उपस्थित होती है। यदि सभी प्राणी कर्म करने में स्वतन्त्र हैं तो फिर वे ईश्वर के *अधीन* कैसे हुए ? और यदि वे ईश्वर के अधीन नहीं हैं, तो फिर ईश्वर को *सर्वशक्तिमान्* वा *पूर्ण* कैसे कह सकते हैं ?

इसका उत्तर **नैयायिक** यों देते हैं कि सृष्ट प्राणियों को *अपनी इच्छा से* ईश्वर ने कर्म करने की स्वतन्त्रता दे रखी है। इससे ईश्वर की पूर्णता में बाधा नहीं पहुँचती। क्योंकि जीवों की स्वतन्त्रता भी *ईश्वरप्रदत्त* है। और अपना अङ्ग किसी को हानि नहीं पहुँचाता, इसलिये जीवों की स्वतन्त्रता से ईश्वर के स्वतन्त्र्यभङ्ग की शंका करना व्यर्थ है। †

(४) शंका—"*ईश्वर है*" यह ज्ञान कैसे प्राप्त होता है ? नैयायिक गण उत्तर देते हैं—"*वेद से।*" फिर यदि यह पूछा जाय कि "*वेद प्रामाणिक क्योंकर है ?*" तो नैयायिक उत्तर देंगे—"*इसलिये कि वेद ईश्वरीय वचन है।*" यहाँ ईश्वर का प्रमाण वेद से, और वेद का प्रमाण ईश्वर से दिया जाता है। यह स्पष्ट *अन्योन्याश्रय* दोष (*Petitio Principi*) है।

समाधान—इसके उत्तर में **नैयायिक** कहते हैं कि यहाँ *अन्योन्याश्रय* दोष की जो उद्भावना की गई है, वह गलत है। अन्योन्याश्रय दोष तब होता जब ईश्वर की *उत्पत्ति* वेद से और वेद की *उत्पत्ति* ईश्वर से मानी जाती। अथवा जब ईश्वर का *ज्ञान* वेद-द्वारा और वेद का *ज्ञान* ईश्वर-द्वारा माना जाता। किन्तु यहाँ तो ईश्वर का *ज्ञान* वेद से और वेद की *उत्पत्ति* ईश्वर से मानी गई है। ईश्वर वेद का कारण है, किन्तु वेद *ईश्वर* का कारण नहीं (क्योंकि ईश्वर अनादि है)। वेद *ईश्वर विषयक ज्ञान* का कारण है। किन्तु ईश्वर वेद *विषयक ज्ञान* का कारण नहीं। वेदज्ञान तो अध्ययन-मनन के द्वारा होता है। इसलिये अन्योन्याश्रय दोष न तो '*उत्पत्ति*' के सम्बन्ध में लागू होता है और न *ज्ञान* के सम्बन्ध में। ईश्वर वेद *का कर्ता* है, और वेद *ईश्वर विषयक ज्ञान का साधन* है। अतएव यहाँ अन्योन्याश्रय दोष की कल्पना भ्रान्त है। ‡

---

* न च निसर्गतः सुखमयसर्गप्रसङ्गः। सृज्यप्राणिकृत सुकृतदुष्कृतपरिपाकविशेषाद्वैषम्योपपत्तिः।
—स० द० सं०।

† नहि स्वातन्त्र्यभङ्गः शङ्कनीयः। 'स्वाङ्गं स्वव्यवधायकं न भवति' इति न्यायेन प्रत्युत तन्निर्वाहात्।
—स० द० सं०।

‡ किमुत्पत्तौ परस्पराश्रयः शङ्क्यते ज्ञप्तौ वा ? नाद्यः। आगमस्येश्वराधीनोत्पत्तिकत्वेऽपि परमेश्वरस्य नित्यत्वेनोत्पत्तेरनुपपत्तेः। नापि ज्ञप्तौ। परमेश्वरस्यागमाधीनज्ञप्तिकत्वेऽपि तस्यान्यतोऽवगमात्।—स० द० सं०।

उदयनाचार्य की युक्तियाँ—

ईश्वर की *सत्ता* तथा *सर्वज्ञता* सिद्ध करने के लिये जिन-जिन युक्तियों का आश्रय लिया जा सकता है, उनका सुन्दर संग्रह **उदयनाचार्य** के निम्नलिखित छोटे पर सारगर्भित श्लोक में मिलता है—

> *"कार्यायोजन धृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः*
> *वाक्यात् संख्याविशेषाच्च, साध्यो विश्वविदव्ययः ।"*
>
> —*न्या० कु० ५।१*

संक्षेपतः युक्तियाँ इस प्रकार हैं—

(१) *कार्यात्*—संसार कार्य है, इसलिये इसका कारण होना आवश्यक है। जगत् में जो शृङ्खला और व्यवस्था देखने में आती है, उससे कर्त्ता की असीम बुद्धि का परिचय मिलता है।

(२) *आयोजनात्*—अणुओं के संयोग से जो भिन्न-भिन्न प्रकार की वस्तुओं की रचना हुई है, वह अत्यन्त आश्चर्य-जनक तथा उस संयोजक की बुद्धिमत्ता का प्रमाण है।

(३) *धृत्यादेः*—यह विश्व जिन अखण्डनीय तथा अनुल्लङ्घनीय नियमों के बल पर स्थिर है उन्हें देखकर विश्वनियन्ता की योग्यता पर चकित रह जाना पड़ता है।

(४) *पदात्*—संसार में अनन्त कला-कौशल पाये जाते हैं जो परम्परागत रूप में अज्ञात काल से चले आते हैं। इन सबों का मूल स्रोत—उद्गमस्थान—ईश्वरीय बुद्धि के सिवा और क्या हो सकता है?

(५) *प्रत्ययतः*—विज्ञान की अभ्रान्तता देखकर पता चलता है कि उसका स्रष्टा (ईश्वर) असीम ज्ञान का भंडार है।

(६) *श्रुतेः*—श्रुतिग्रन्थ स्पष्ट रूप से कहते हैं कि ईश्वर सर्वज्ञ और सृष्टिकर्त्ता है।

(७) *वाक्यात्*—भाषा की उत्पत्ति पर विचार करने से ज्ञात होता है कि आदिम भाषा की सृष्टि न तो व्यक्ति-विशेष द्वारा संभव है, न समुदाय-विशेष द्वारा। भाषा ईश्वर की देन है और ईश्वरीय चमत्कार का द्योतक है।

(८) *संख्या विशेषात्*—संख्या का ज्ञान सर्वप्रथम कैसे हुआ? द्वयणुक-त्र्यणुक आदि समुदायों की सृष्टि संख्याज्ञान के बिना नहीं हो सकती थी। इससे सिद्ध होता है कि संख्याज्ञान का भी मूल आधार ईश्वर ही है। जिस ज्ञान का थोड़ा-सा अंश पाकर मनुष्य गणितादि शास्त्रों का आविष्कार करता है, वह ज्ञान पूर्णरूप से ईश्वर में वर्त्तमान है।

इन सब बातों से पता चलता है कि **ईश्वर** *सर्ववित्* और *सर्वकर्त्ता* है।

ईश्वर का स्वरूप—

न्याय मतानुसार ईश्वर के लक्षण ये हैं—

(१) ईश्वर *शरीररहित* होते हुए भी *इच्छा, ज्ञान* और *प्रयत्न* इन गुणों से युक्त है।

(२) ईश्वर *अनन्त ज्ञान का भंडार* है। उसकी शक्ति का पारावार नहीं है। वह *सर्वज्ञ* और *सर्वशक्तिमान्* है।

(३) ईश्वर *जगत् का रचयिता* है। वह परमाणुओं की सहायता से सृष्टि की रचना करता है। परमाणु (आकाश की तरह) नित्य हैं। वे ईश्वर के बनाये हुए नहीं हैं। पर उन्हीं के सहारे ईश्वर निखिल विश्व का निर्माण करता है। अतएव ईश्वर *उत्पादक कर्त्ता* नहीं है। अर्थात् वह मकड़े की तरह अपने भीतर से सृष्टि उत्पन्न नहीं करता। वह कुम्भकार की तरह *प्रयोजक कर्त्ता* है जो उपादानों को लेकर रचना करता है। अतएव नैयायिकगण ईश्वर को **'ब्रह्माण्ड कुलाल'** कहते हैं। ईश्वर जगत् का *उपादान कारण* (Material Cause) नहीं, किन्तु *निमित्त कारण* (Efficient Cause) है।

(४) ईश्वर सकल विश्व का *संस्थापक* और *नियामक* है। उसीके बनाये हुए नियमों के अनुसार संसार चक्र चलता है। ईश्वर ही सम्पूर्ण सृष्टि का *कर्त्ता, धर्त्ता* और *संहर्त्ता* है।

(५) ईश्वर सब जीवों का *कर्मफलदाता* है। वह *अन्तर्यामी* और *सर्वज्ञ* होने के कारण सभी के पाप-पुण्य जानता है और उनके अनुसार ही प्राणियों को दुःख-सुख का भोग कराता है। प्रकृति जड़ होती है। जीव *अल्पज्ञ* होते हैं। अतः भवचक्र* चलानेवाला सर्वज्ञ ईश्वर के सिवा और कोई नहीं हो सकता।

"कालकर्मप्रधानादेरचैतन्याच्छिवोऽपरः।
अल्पज्ञत्वात्तु जीवानां ग्राह्यः सर्वज्ञ एव सः।

— स. सि. सं.।

---

* पुनर्जन्म और मोक्ष का वर्णन अग्रिम खण्ड (वैशेषिक दर्शन) में देखिये।

विषयानुक्रमणिका